श्रीमद्दयानन्द-जन्म-शताब्दी के शुभावसर पर
प्रकाशित।

आर्यपर्वपद्धति



बिजनौर, अन्तर्गत हल्दौर निवासी,
श्री० पं० भवानीप्रसाद जी प्रणीत।

ओ३म्

आर्यपर्वावलि

उत्तरकोसल (वर्तमान संयुक्तप्रान्त) प्रदेशा-
न्तर्गत बिजनौर ज़िलास्थित हल्दौर-
ग्राम-निवासी

श्री० पं० भवानीप्रसाद जी

प्रणीत

उनके सुपुत्र

विद्यावारिधि पं० सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ, कविरत्न

द्वारा

संशोधित

तथा

मुरादाबादीय वैदिक पुस्तकालयाध्यक्ष,

श्री० पं० शङ्करदत्त जी

द्वारा

शर्मामैशीन प्रिंटिंग प्रेस मुरादाबाद,

में

मुद्रित और प्रकाशित

माघ विक्रमाब्द १९८१ श्रीमद्दयानन्दाब्द १००

प्रथम संस्करण }
१००० } { मूल्य ॥)

पूर्व-वचन

इस आर्य पर्वावलि के प्रणयन तथा प्रकाशन की कथा अपने साथ कुछ मनोरञ्जन लिए हुए है, अतः प्रेमी पाठकों की विज्ञप्ति और मनोविनोद के लिए सबसे प्रथम यहाँ उसका परिचय अनुचित न होगा।

हिन्दू-नामधारिणी आर्य जाति के अन्य धर्म कर्म और रीति रवाजों के समान उसके पर्व (त्योहार) भी रूढ़ि के ढेरमात्र रह गये थे। इस युग के अद्वितीय सुधारक और आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने हिन्दुओं को सनातन वैदिक मार्ग पर लौटा ले जाने का भगीरथ-प्रयत्न करते हुए उनमें स्वसंगृहीत संस्कारविधि ग्रन्थ द्वारा विस्मृत प्राय शास्त्रोक्त संस्कारों का प्रचुर प्रचार किया। परन्तु महर्षि की परिमित जीवनावधि के स्वल्प कार्य-काल ने उस को आर्य जाति में संजीवनी-शक्ति के संचारक आर्यपर्वों के सुधार का अवकाश और अवसर न दिया। अपने संस्थापक आचार्य के के उत्तराधिकारी और सुधारक संस्थाओं के अग्रणी आर्यसमाज का परम कर्तव्य था कि वह उसके पीछे आर्य पर्वों के अत्या-वश्यक परिष्कार और सुधार की ओर तात्कालिक दृष्टि देता, परन्तु महर्षि दयानन्द के स्वर्गारोहण के पश्चात् आर्य समाज में कुछ दिन के लिए स्फूर्त्ति का आविर्भाव होकर भी फूट पिशाची का ताण्डव होने लगा और 'कल्चर्ड' और 'महात्मा' पार्टियाँ बन गई। इन प्रतिपक्षों में कलह की अग्नि ने ऐसा प्रचण्ड रूप धारण किया कि उसमें आर्यों को अपने कर्तव्यों की पूर्त्ति का ध्यान ही न रहा और यह पर्वों के सुधार का विषय भी आर्यसमाज से उपेक्षित कार्यों के अन्तर्गत ही आ

पड़ा। आर्यसमाज की इस विषय की उपेक्षा का वर्णन एक मनोरम मासिक 'नवजीवन' ने अपनी ज्येष्ठ वैशाख सं०१९७२ की संख्या में इन शब्दों में किया था—

"आर्यसमाज में जितने व्यर्थ के आन्दोलन हुआ करते हैं उतना ही आवश्यक और उपयोगी आन्दोलनों का अभाव है। उन कई अत्यावश्यकीय समस्याओं में से जिन्हें कि आर्यसमाज को हल करना है 'आर्य तेवहार' की समस्या भी एक गुरुतर समस्या है। आर्यसमाज की स्थापना को अर्धशताब्दी बीतती है किन्तु हम अभी तक अपने तेवहारों तक का निश्चय नहीं कर सके हैं न तेवहार ही निश्चित हुए हैं और न उनकी पद्धति ही है। कहीं कोई तेवहार मनाया जाता है और वह किसी पद्धति से, कहीं कोई तेवहार मनाया जाता है और वह किसी दूसरी ही पद्धति से। आर्य-वैदिक तेवहार निश्चित होने चाहिएं और उनकी पद्धति भी निश्चित होनी चाहिये। त्यौहारों का नियमित समय पर एक ही निश्चित पद्धति के अनुसार मनाना प्रत्येक आर्य का वैसा ही कर्तव्य होना चाहिये जैसा कि १६ संस्कार या अन्य दूसरे कर्तव्य हैं। प्रत्येक धर्म और प्रत्येक राष्ट्र के त्यौहार—जातीय त्यौहार—चिह्न हैं और प्रत्यक्ष चिह्न हैं। हमें प्रत्येक त्यौहार बड़े प्रेम से और आनन्द से मनाना चाहिये। हमारे त्यौहारों की विधि धर्मशास्त्रोक्त, वद्यक। शास्त्रोक्त और विज्ञान। शास्त्रोक्त ही होनी चाहिये। हमारे त्यौहार हमारे धर्म का महत्व, उस का युक्तियुक्त होना, सार्वभौमिक, सार्वदेशिक होना आदि आदि विशेषताओं के सूचक होने चाहिएं। जहाँ वह धर्म पद्धति के उत्तेजक हों वहाँ राष्ट्रीयता के भी पूर्ण प्रदर्शक हों। आवश्यकता नहीं है कि कोई नये त्यौहार गढ़े जावें, वर्तमान आर्य (हिन्दू) समाज में जो त्यौहार प्रच-लित हैं उन के ही अवैदिक और निरर्थक भाग का संशोधन

और वीरभाव की संचारिका तथा ब्रह्मचर्य के आदेश की व्यवस्थापिका हनूमज्जयन्ती तथा भीष्माष्टमी भी उस में नहीं आई थीं। भ्रातृ-भगिनी स्नेह को दृढ़ करने वाली भ्रातृद्वितीया और दाम्पत्य प्रेम की पोषिका दम्पती-चतुर्थी भी उस में नहीं थी। हाँ शीया सुन्नियों में रक्तपातोत्पादक 'तबर्रा' पाठ के समान पौराणिकों से कलह की मूल काशी-विजय की सूचक विजय द्वादशी की नई सृष्टि उस में की गई थी। इसी लिए विनीत निबन्धक ने इन सूत्रों को स्वनिर्मित निबन्ध से विप्रतिपन्न पाकर अपने उक्त ग्रन्थ के विचारार्थ श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी सभा की विद्वत्समिति का एक दूसरा अधिवेशन बुलाने की प्रार्थना की और उस पर कृपा पूर्वक श्री कार्यकर्तृ प्रधानजी ने ५ नवम्बर १९२४ ई० मथुरा में उस के लिए नियत करदी। आर्य पर्व पद्धति के प्रणेता को पूर्ण आशा थी कि मेरठ के गत अधिवेशन में ज्ञात प्रयत्न के कारण विद्वत्समिति के कतिपय सदस्यों का पर्याप्त संख्या में जो पदार्पण नहीं हो सका था, उस के पूर्यर्थ मथुरा के अधिवेशन में आर्य विद्वानों की प्रचुर-संख्या सुशोभित होकर उस के ग्रंथ का विमर्श करके उसको कृतार्थ करेगी किन्तु "मेरे मन कुछ और है विधना के मन और।" मेरी आशा दुराशा मात्र सिद्ध हुई और मथुरा के अधिवेशन में श्री स्वामी स्वतंत्रानन्द जी के अतिरिक्त और किसी सदस्य ने बाहर से पधारने का कष्ट नहीं उठाया। श्री नारायण स्वामी जी कार्यकर्तृ प्रधान तो वहाँ अपने कार्यालय में पूर्व से ही विराजमान थे। हाँ, इन पंक्तियों के लेखक को भी Co-option (सहनियोजना) द्वारा उक्त विद्वत्समिति का एक अन्यथासिद्ध सदस्य मनोनीत कर लिया गया था। इस प्रकार ३ का कोरम पूरा करके वस्तुतः प्रशंसित दोनों महानुभावों (संभ्रान्त-स्वामियुग्म) के द्वारा ही इस पुस्तक-प्रणेता

के मास-चतुष्टय-व्यापक प्रचुर परिश्रम के फलस्वरूप ५०० पृष्ठ के पर्वोद्धान। ग्रंथ के भाग्यनिर्णय की परिणति हुई। विनीत निबन्धकर्ता ने बहुसम्मति के आदरार्थ अपनी मन्द-मति के विरुद्ध भी तुरीय आश्रम की शोभाद्वयी के निर्णय को शिरोधार्य किया और उक्त स्वामिमहोदयद्वय की स्वीकृत निम्नलिखित १४ पर्वों की पर्वपद्धति को प्रकाशनार्थ श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी सभा के अर्पण कर दिया।

१ नवसंवत्सरोत्सव (संवत्सरेष्टि)। २ (क) आर्यसमाज स्थापनादिवस, (ख) सरस्वतीपञ्चमी। ३ रामनवमी (श्री-रामजन्म)। ४ हरिततृतीया (हरियाली तीजो)। ५ श्रावणी-ऋषितर्पण, उपाकर्म। ६ कृष्णजन्माष्टमी। ७ विजयादशमी। ८। (क) शारदीय-नवशस्येष्टि (दीपावली), (ख) दर्शेष्टि (ग) दयानन्द निर्वाण। ९ मकरसंक्रान्ति। १० वसन्तपञ्चमी ११ सीताष्टमी (जानकी जन्म)। १२ दयानन्द जन्मदिन (दयानन्द बोधरात्रि)। १३ लेखराम वीरतृतीया। १४ (क) वासन्ती नवशस्येष्टि (होलिका), (ख) फाल्गुनपौर्णमासेष्टि।

इस पर्वपद्धति में निम्नलिखित मेरे लिखे हुए १४ पर्वों के निबन्धों और पद्धतियों का समावेश नहीं हुआ।

१ श्री हनूमज्जयन्ती। २ श्री सूरदास जयन्ती। ३ श्रीबुद्ध-जयन्ती। ४। श्री शंकराचार्य जयन्ती। ५ गंगावतरण (दशहरा) ६ आव्यासपूजा। ७ श्रीतुलसीदास स्वर्गारोहण। ८ श्रीविरजा-नन्दनिर्वाण। ९ शरत्पूर्णिमा। १० वामनचतुर्थी। ११ भ्रातृ-द्वितीया। १२ गोपाष्टमी। १३। भीष्माष्टमी। १४ गुरुदत्तदिन।

इस अवशिष्ट पर्वावली पर यद्यपि मुझको उपर्युक्त विद्वत्समिति में सदस्य रूप से समागत बहुसंख्यक आर्यविद्वानों के मत जानने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, तथापि व्यक्तिशः इस के विषय में मैंने कई गण्यमान्य आर्य विद्वानों और आर्य

समाज के कई शिरोमणि महानुभावों से विचार किया, तो उनकी सम्मति को इन पर्वों के अनुकूल पाया और उन की इस सम्मति की अनुकूलता ने ही मुझको इन पर्वों को आर्यपर्वावली परिशिष्ट नाम से ग्रंथरूप से प्रकाशन के लिए प्रेरित किया है और वह आर्यजनता के विमर्श और स्वीकार के लिए आर्य सज्जनों के सम्मुख उपस्थित है।

हाँ इसकी कथाका एक आवश्यक अंश वर्णन से छूट गया और उस के बिना यह अधूरी हो रह जायगी। इस लिए विवेचक महाशयों की सेवा में उस को प्रस्तुत करना भी अनिवार्य है।

जब श्री नारायण स्वामी जी कार्यकर्तृप्रधान श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी सभा के आदेश और अंगीकार से उपर्युक्त सर्व २८ पर्वों पर उक्त बृहत्काय ग्रन्थ की रचना हो चुकी तो सम्भ्रान्त स्वामी जी ने उनकी सूची को आर्य जनता की सम्मति प्राप्ति के लिए आर्य समाचार पत्रों में प्रकाशित करना आवश्यक समझा और उसको मेरे पास से "Urgent" पत्र द्वारा मंगा कर 'आर्यमित्र' आगरा और 'प्रकाश' लाहौर में अपनी ओर से प्रकाशित कराया। यदि इस सूची का प्रकाशन ग्रन्थ लेखन से पूर्व ही कराया जाता और उस पर आर्य पत्रों में वाद विवाद होकर आर्यपर्वों के नामों के निर्णय के अनन्तर पद्धतिप्रणयन की आयोजना की जाती तो यह दीन स्वल्प सामर्थ्य लेखक इतने बृहत्काय ग्रन्थ के लिखने के परिश्रम से बच जाता, किन्तु महा शक्तिशाली प्रभुवर्ग क्षुद्र सेवकों और अनन्य गतिक आश्रित जनों के प्रयास की ओर कम ध्यान दिया करता है, इस लिये इस विषय में व्यर्थ उपालम्भ की अवतारणा धृष्टतामात्र है।

आर्य पर्व सूची को आर्य जनता के विचारार्थ प्रकाशित कराना तो इन पंक्तियों का लेखक भी अवश्य चाहता था, किन्तु उस को प्रत्येक पर्व के विषय में अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना सहित उसको आर्य विचारकों के सामने लाना अभीष्ट था। परन्तु खेद है कि आर्य समाज के एक मात्र आर्य भाषा साप्ताहिक आर्यमित्र में उस को उस के लिये स्थान न मिल सका, और फलतः जिन महाशयों ने उस पर अपने मत भेजे, उनको एक पक्ष का ही अवलंब लेकर प्रस्तावना रहित उसकी प्रस्तुत की हुई और श्रीकार्यकर्तृ प्रधान द्वारा प्रकाशित उक्त पर्वनामावली पर ही स्वविचार वीचि को तरङ्गित करना पड़ा। इस से भी बढ़ कर खेद का यह विषय है कि उस पर आर्य समाज के शिरोमणि गौरवधन तथा समालोचना-शेमुषी-समन्वित विद्वानों में से किसी ने भी स्वसम्मति देने वा आन्दोलन करने की दयादृष्टि न दिखलाई। जिन १२ महाशयों ने उस पर मत भेजने का कष्ट उठाया, उनमें से एक दो के साथ यदि समाजों के पदाधिकार की प्रतिष्ठा न लगी होती, तो उन में अधिकांश का वाग्विलास विद्वन्मंडली में विमर्श के योग्य भी न समझा, जाता। खेद है कि इन पत्रोंका प्रचुरांश उसी विचारसंकीर्णता परमत तथा परोत्कर्ष;की असहिष्णुता और ज्ञानलवदुर्विदग्धता, से भरपूर है, जिन के लिये कुछ आदरणीय अपवादों को छोड़ कर आर्य सामाजिक पुरुष बहुत बदनाम हैं और जो मत मतान्तरों के इतिहास में सदा से मतवाद (Sectarianism) की विशेषतायें चली आई हैं, और जिसमें, खेद है कि, वर्तमान आर्य समाज अपने विश्वजनीन धार्मिक स्वरूप को परित्याग करके शनैः शनैः प्रविष्ट होरहा है। इन आक्षेप पत्रों का यदि सार लिया जाय तो वह निम्न लिखित ३ भागों में विभक्त हो सकता है।

१—बुद्ध, शंकर, सूर और तुलसी के कई सिद्धान्त आर्य-समाज के मन्तव्यों से विरुद्ध हैं—बुद्ध नास्तिक था और शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार किया था, सूर और तुलसी मूर्तिपूजक तथा अवतार-वादी थे—इस लिए उनकी जयन्तियां वा पुण्य तिथियाँ आर्यसामाजिकों को न मनानी चाहिएँ।

२—यदि बुद्ध, शंकर, सूर और तुलसी के स्मारक दिनों को आर्यपर्वावली में स्थान दिया जाय तो "मसीह, मोहम्मद, ज़रदुश्त, नानक, और कबीर आदि" धर्म प्रवर्तकों ने क्या अपराध किया है कि उनका नाम उसमें सम्मिलित न किया जाय।

३—गंगावतरण, व्यासपूजा, शरत्पूर्णिमा, दम्पतीचतुर्थी भ्रातृद्वितीया और गंगाष्टमी हिन्दू वा पौराणिक पर्वों के रूपान्तर हैं। वैदिक धर्मावलम्बी आर्यसमाज को उनका मनाना उचित नहीं।

आशंकावादियों के समाधानार्थ मैं अपने और अपने सहमत विद्वानों के एतद्विषयक हेतुभूत कुछ विचार नीचे लिखता हूं——

प्रथम शंका के विषय में पहिले यह विचारणीय है कि क्या किसी महापुरुष की जयन्ती वा स्मरणदिन केवल उस के किसी मुख्य मत वा सम्प्रदायविशेष के प्रवर्तक होने के रूप में ही मनाए जाते हैं वा उसके कोई सर्व संसार वा समस्तराष्ट्र के समान रूप से उत्कर्षकारक, उपकारक, हितसम्पादक, अभ्युदायक और सत्पथप्रवर्तक गुणग्राम और आदर्श कार्य-कलाप भी उसके स्मारक-पर्व के स्थापन के कारण हो सकते हैं। भगवान् बुद्ध, श्रीशंकराचार्य-भगवत्पाद और भारतीय राष्ट्र की सर्व व्यापक भाषा हिन्दी के साहित्य व्योम के सूर्य

और शशि सूर और तुलसी के स्मारक पर्वों ने तो उनके आर्यावर्तीय संस्कृति और सभ्यता तथा सदाचार मूलक वैदिकधर्म के प्रमुख उद्धारक और भारत के गुरु गौरव वर्द्धक और यशो-विस्तारक होने के कारण आर्यपर्वावली में स्थान पाया है।

फिर क्या यह कभी संभव है कि सब अनुकरणीय और प्रशंसनीय गुणों के केन्द्र इस समय के आर्यसामाजिक महापुरुष ही बन जायें—वे ही उनके अकेले ठेकेदार हों। संसार का उद्धार, राष्ट्र का निर्माण और उच्च आदर्शों की स्थापना किन्हीं विशेष मतों के मानने वालों की ही अनन्याधिकृत सम्पत्ति नहीं हो सकती। वर्तमान आर्यसमाज से पूर्ववर्ती महापुरुष और महात्मागण भी उसके संस्थापक तथा विस्तारक होसकते हैं।

इसके अतिरिक्त क्या यह होसकता है कि सैकड़ों और सहस्रों वर्ष पूर्व विशेष परिस्थितियों में प्रादुर्भूत महापुरुषों के मतों का वर्तमान आर्यसमाज से एकीकरण होसके। महापुरुष अपने समय की आवश्यकताओं के पूरक और न्यूनताओं के निवारक होते हैं, और इसी निमित्त वे पापपुञ्ज से आक्रान्त धराधाम पर अवतीर्ण होते हैं।

महात्मा बुद्धदेव जीवदया से सर्वथा विमुख और वैदिक कर्मकांड के नामसे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" की आड़ में यज्ञों में सर्वत्र प्रचलित मूकपशुओं के रक्तपात के क्रूरकाल में भारत में प्रादुर्भूत हुए थे। इसलिये उनका उस प्रकार के वैदिक कर्मकांड और उसके प्रतिपादक ग्रन्थों की जुगुप्सा तथा धर्म के ईश्वर भक्ति आदि अन्य अङ्गों की उपेक्षा करके भी धर्ममूल दया और साधारण सदाचार पर ही एक मात्र बलप्रदान अनिवार्य था। अतएव उन्होंने सदाचार और अहिंसा

धर्म के प्रचार में ही अपना सारा जीवन लगा दिया और पर-ब्रह्म साक्षात्कार वा ईश्वरसिद्धि आदि की परिपुष्टि और दार्शनिक विचार पर कुछ कथन करने की उनको कुछ भी आवश्यकता प्रतीत न हुई। इन विषयों से उनकी उपेक्षा ने उनके पश्चात् आगे जाकर उनके बौद्धमत में उसके विकार काल (Degeneration age) में नास्तिकता का सञ्चार कर दिया।

परन्तु आजकल बौद्ध साहित्य की नवीन अन्वेषणा यह प्रमाणित कर रही है कि बुद्धभगवान् भी वैदिक धर्मके पुरातन आचार्यों के समान ईश्वर और वेद में पूर्ण आस्तिक बुद्धि रखते थे। उनके धर्मोपदेशों में यद्यपि जगत्कर्तृत्व और ईश्वरादि विषयक जटिल प्रश्नों पर विचार नहीं कियागया है और धर्म के क्रियात्मक भाग चारित्र्यनिर्माण को ही मुख्य मानागया है तथापि उनमें ईश्वर का सर्वथा उल्लेख न हो ऐसा नहीं है। इस विषय में कर्तव्य शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ और सुप्रसिद्ध 'धम्मपद'के'अत्तवग्ग' (आत्मवर्ग) का चतुर्थ श्लोक देखिये।

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परोसिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभम्॥

अर्थात् आत्मा का नाथ आत्मा ही है, आत्मा को संयम में करके दुर्लभ नाथ की प्राप्ति होती है।

इस श्लोक में 'दुर्लभ नाथ को आत्मा के द्वारा प्राप्त किया जाता है' यह स्पष्ट लिखा है और आत्मसंयम के द्वारा उसकी प्राप्ति बतलाई गई है। आत्मा का नाथ परमात्मा ही हो सकता है।

इसी 'धम्मपद' के 'नागवग्ग' में निम्न लिखित श्लोक भी आया है।

सुखा मत्तेयता लोके, अथोपेत्तेयता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा॥

इस पद्य के पहिले तीन चरणों में माता पिता का सम्मान करना और श्रमणों का सत्कार करना सुखदायक है यह बतलाते हुए अन्तिम चरण में "अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा" (अथो ब्रह्मज्ञता सुखा) अर्थात् ब्रह्मज्ञान बड़ा सुख है यह उपदेश दिया गया है। यह पद्य इस बात का प्रबल प्रमाण है कि बुद्ध भगवान् ईश्वरसत्ता में पूर्ण विश्वास रखते थे।

अंगुत्तर निकाय ४। १९० में बुद्ध भगवान् ने एक प्रश्न के उत्तर में दया, करुणा और न्याय आदि द्वारा ब्रह्म प्राप्ति बतलाई है, वहाँ "बम्भ पात्तो होति" (ब्रह्म प्राप्तो भवति) ये शब्द स्पष्ट पड़े हैं। "इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक उल्लेखयोग्य घटना इस सम्बन्ध में यह है कि सन् १९१२ के दिसम्बर मास के 'शिकागो' (अमेरिका) से निकलने वाले Open Court Magazine नामक मासिक पत्र में डाकृर मजीनानन्द स्वामी एम० ए० नामक एक बौद्ध भिक्षु ने तिब्बत के कई स्थानों में प्रचलित संध्या को अर्थसहित प्रकाशित कराया था। इस संध्या में १ "अग्नेनयसुपथा राये अस्मान्", २ "हिरण्यमयेन पात्रेण" इत्यादि मन्त्रों के अतिरिक्त ३ "शन्नोदेवीरभीष्टये", ४ "वाक् वाक् प्राणः प्राणः", ५ "उद्वयं तमसस्परि से "तच्चक्षुर्देवहितम्" तक उपस्थान मन्त्र

गायत्रीमन्त्र, "नमःशम्भवाय" इत्यादि मन्त्र सन्ध्या के मनसा परिक्रमा को छोड़ कर प्रायः सब मन्त्र पाए जाते हैं। उनके अर्थ भी वहां उक्त ठाकुर महोदय ने ईश्वरपरक ही दिये हैं।"

(वैदिक धर्म, औंध के वर्ष ५ अङ्क १२ में प्रकाशित श्री पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालङ्कार लिखित "वैदिक धर्म की तुलना" शीर्षक लेख से उद्धृत)

इस प्रमाण से जहाँ बुद्धदेव और उनके प्रचारित बौद्धधर्म के आदि काल का ईश्वरसत्ता में विश्वास सिद्ध होता है, वहां यह भी प्रमाणित होता है कि वे वेद में भी प्रामाण्य बुद्धि रखते थे। अन्यथा उन की संध्या में वैदिक मंत्र किस प्रकार स्थान पा सकते थे। इसके अतिरिक्त बुद्ध भगवान् ने स्थान स्थान पर ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया है। ब्रह्मचर्य शब्द में ब्रह्म वेद का ही वाचक है। इससे वेद का अध्ययन स्वयं आजाता है। फिर बुद्ध भगवान् ने ब्राह्मण धार्मिक सूत्र में स्पष्ट बतलाया है कि प्राचीन काल में हिंसात्मक यज्ञ न किये जाते थे। उस समय याज्ञिक लोग धान्य से ही होम करते थे, पीछे से ब्राह्मणों ने अधिक दक्षिणा के लोभ से यज्ञों में पशु हिंसा चलादी। इन अवतरणों से पूर्ण प्रमाणित होता है कि भगवान् बुद्ध सनातन वैदिक धर्म और आर्य्य-संस्कृति के पुनरुद्धारक और पूर्णप्रचारक थे और अपने समय की एक आवश्यकता अहिंसा धर्म के प्रचार और सदाचार के संस्थापन में ही उन्होंने सब सुख-सामग्रियों को परित्याग करके अपना जीवन अर्पण किया था।

इसी प्रकार जब भारतीय जनता बुद्ध भगवान् के दयामूलक धर्म को भुला कर अनीश्वरवाद के गहरे गर्त में आ पड़ी

थी, तब भगवान् शङ्कराचार्य ने जन्मग्रहण कर के उनसे उस का उद्धार किया था। उस समय सब से बढ़कर ईश्वर सिद्धि की ही आवश्यकता थी और इसलिये शङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में संसार के मायाजाल को छोड़ कर सर्वोपरि ब्रह्मदर्शन पर ही बल दिया था। जहाँ भगवान् बुद्ध ने सदाचार और विशेषतः दया धर्म का प्रचारक होने के कारण दार्शनिक वाद विवाद से उपेक्षा की थी, वहाँ भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसाक्षात्कार के चरम चक्षुओं से परोक्ष विषय की सिद्धि के लिये दार्शनिक विचार का ही आश्रय लिया था। उनकी दार्शनिक संवाद की शैली और क्रमिक का दार्शनिक संसार आज भी लोहा मान रहा है और भारतीय दर्शन की शतमुख से प्रशंसा कर रहा है। श्री शङ्कराचार्य ने केवल अनीश्वरवादियों को ब्रह्मजिज्ञासा में ही प्रवृत्त नहीं किया, प्रत्युत उन्होंने विलुप्तप्राय वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की भी पुनः स्थापना की और मुमूर्षु देववाणी के निश्चेष्ट शरीर में सञ्जीवनी शक्ति का संचार किया। क्या वेद और आर्यसंस्कृति का अभिमानी भारत वैदिक धर्मके प्रति शङ्कर के इन असीम उपकारों को भुला सकता है और उनके जीव ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक केवल एक पक्ष को पकड़ कर कृतघ्नता का पाप अपने ऊपर ले सकता है। कदापि नहीं।

इस युग के अद्वितीय वेदोद्धारक और आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द भी श्री शंकराचार्य को कोई साम्प्रदायिक पुरुष न मानते थे। उन्होंने अपने अनुपम ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के आदिम संस्करण में पृष्ठ २८४ पर श्री शंकराचार्य जी के विषय में यह लिखा था—

"शंकराचार्य कोई सम्प्रदाय के पुरुष नहीं थे किन्तु वेदोक्त

चार आश्रमों के बीच सन्यासाश्रम में थे। उनके विषयमें लोगों ने सम्प्रदाय की न्याईं व्यवहार कर रक्खा है।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में भी जीव ब्रह्म की एकता को श्री शङ्कराचार्य का निज मत नहीं माना किन्तु उसको बौद्ध और जैन मत के निरीश्वरवाद के निरसन के लिए उनका ग्रहण किया हुआ उस समय का शस्त्र मात्र बतलाया है। महर्षि दयानन्द का अनुमान था कि उक्त अवैदिक मतों को हटाकर श्री शङ्कराचार्य वास्तविक वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करते, किन्तु अपनी स्वल्प जीवनावधि में उन को इसका अवकाश न मिला। कैसे खेद की बात है कि आर्यसमाज के आचार्य श्रीमद्दयानन्द तो श्री शंकराचार्य को "साम्प्रदायिक" नहीं बतलाते और उनके अनुयायी वर्तमान आर्यसमाजी श्री शंकर को नवीन पन्थ चलाने वाला कहते हैं और उन की जयन्ती मनाने से "अपने ऊपर उन के मत वालों के प्रति पक्षपात के दोष आने की" सम्भावना करते हैं। कुछ आर्य सामाजिकों के ऐसे क्षुद्र विचार ही सारे आर्यसमाज पर परमतासहिष्णुता, परगुणग्रहणपराङ्मुखता, हृदय संकीर्णता, अनुदारता और आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म के अन्य उद्धारक महापुरुषों के प्रति वीतश्रद्धता के दोषारोपण और आक्षेप कराते हैं।

महात्मा और महापुरुष, चाहे उनके निज के मत कुछ क्यों न हों, किन्हीं विशेष सम्प्रदायों वा समाजों की सम्पत्ति नहीं होते हैं। उन का लोकाभ्युदय कारक आविर्भाव सारे राष्ट्र का गौरववर्धक और प्रतिष्ठाप्रदायक होता है। उनके गुणों को स्मरण और ग्रहण करने का सब को समान अधिकार होता है।

फिर सभी महापुरुष सब गुणों की खान नहीं होते। सब सद्गुण तो पूर्णरूपेण एक मात्र परमेश्वर में ही पाए जाते हैं। कोई महापुरुष धर्मवीर और कर्मवीर होते हैं, कोई अपनी सत्यवीरता और प्रणवीरता के लिए प्रसिद्ध होते हैं, कोई अपनी शूरवीरता और महावीरता से संसार को शिक्षा देते हैं, कोई साहित्यवीर जनमनोरंजन के साथ साथ जनता को सत्पथ में प्रवृत्त करते हैं, कोई दानवीर दान का आदर्श दिखलाते हैं। देश व राष्ट्र उनके उपर्युक्त एक एक ही गुण से धन्य और कृतकृत्य होता है। उस से ही वह संसार में अपना मस्तक ऊँचा करके चलता है। क्या वृद्ध भारतीय राष्ट्र दया के अवतार श्री बुद्धदेव तथा अद्वितीय दार्शनिक और अपूर्व विचारक श्री शंकराचार्य के पुण्याविर्भाव से, सभ्य संसार का सम्मान्य नहीं है और क्या इन दोनों धर्मसंस्थापक महोदयों के द्वारा वैदिक धर्म के किन्हीं उच्च सिद्धान्तों और भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सिक्का सर्वसंसार पर नहीं बैठा हुआ है? क्या कवि कुलगुरु कालिदास की रम्य रचना अभिज्ञान शाकुन्तल ने भारत के विषय में योरप के मन्द विचारों को बिलकुल ही नहीं बदल दिया था? क्या हिन्दी काव्यव्योम के सूर (सूर्य) सूर, और शशि तुलसीदास भारत और आर्यजाति की प्रशंसा योरप आदि के विद्वानों के शतमुख ही से नहीं कराते हैं? क्या हिमालय में गंगा लाने के कारण महाराज भगीरथ का भगीरथ प्रयत्न लोकोक्ति नहीं बन गया है? फिर क्या इस शताब्दी के अद्वितीय धर्म संस्थापक और सुधारक महर्षि दयानन्द पर एक मात्र आर्यसमाजियों का ही स्वत्व है? क्या वे अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध सम्मति रखने वाले संसार के प्रशंसापात्र और प्रातःस्मरणीय नहीं हैं? इन सब प्रश्नों के ऊहापोह से यही प्रमाणित

होगा कि आर्यसमाज के किसी सिद्धान्त के प्रतिकूल ग्रन्थों के प्रचारक, किंतु किन्हीं भी उच्च आर्य आदर्शों के संस्थापक, भारत गौरव वर्धक तथा भारतीय संस्कृति के उद्धारक वीरों का शुद्ध वीर पूजा का प्रचार भी सब सुधारकों के अग्रगन्ता तथा सत्यप्रिय आर्यसमाज और उदार आर्यमात्र का परम कर्तव्य है। रूढ़ि के उपासक संकीर्ण मतवादियों से इसकी आशा दुराशामात्र है। श्री सूरदास और तुलसीदास के विषय में भी उपर्युक्त विमर्श सर्वथा लागू होता है कि उनके स्मारक पर्व भी उनके किन्हीं विशेष मतों के अनुयायी व प्रचारक होनेके कारण नियत नहीं हैं, प्रत्युत उनके भारतीय राष्ट्र की सर्व व्यापक भाषा हिन्दी के महाकवि और साहित्य वीर होने के हेतु उनके स्मृतिदिवस मनाए जाते हैं। चाहे आर्यसमाज के संस्थापक आचार्य ऋषि दयानन्द ने आर्ष-ग्रन्थों के प्रचार पर विशेष बल देते हुए भाषा (हिन्दी) ग्रन्थों के पठन पाठन की विगर्हणा ही क्यों न की हो किन्तु आर्यसमाज के उपनियमों में प्रत्येक आर्य सभासद के लिये आर्यभाषा (हिन्दी) के ज्ञान की अनिवार्यता का उनका निर्मित नियम तथा अपने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों की इस भाषा में रचना और आज कल भारतीय राष्ट्र के सभी नेताओं और देशहितैषियों का हिन्दी भाषा का राष्ट्रीय भाषा स्वीकार करना प्रत्येक भारतीय के लिये हिन्दी के पठन पाठन की अनिवार्य्य आवश्यकता स्थापित कर रहा है। जब प्रत्येक भारतीय पुत्र और पुत्री से हिन्दी साहित्य के अध्ययन का अनुरोध किया जाता है और उसमें उच्च शिक्षा की उपादेयता का उपदेश दिया जाता है उसके अंगीभूत हिन्दी के प्राचीन उच्च साहित्य के पाठ्यक्रम में से उसके अनुपम अंग-सौष्ठव के विधाता सूर और तुलसी का बहिष्कार किस प्रकार संभव है और इन दोनों अद्वितीय महाकवियों के प्रति

अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान के भाव को भुलाकर हम कृतघ्नता के किसी गहरे गर्त में क्यों न गिरेंगे। यदि हिन्दी के भाग्य में भारत की भावी राष्ट्रीय भाषा होना बदा है, और उसके इस सौभाग्य में अब किसी को भी सन्देह नहीं है, तो उसके महा-महिम महाकवियों सूर और तुलसी को अपने राष्ट्रीय कवियों के सम्बन्ध से सम्मान-प्रदान सर्वथा संगत और वैध है।

एक आर्यसमाज के सम्भ्रान्त प्रधान महाशय को वैदिक धर्म के प्रचार में तुलसी और सूर के ग्रन्थ ही रुकावट प्रतीत होते हैं। आपका वर-वाक्य-विन्यास नीचे तनिक अवलो-कन कीजिये—

"यदि सच पूछिये तो आज वैदिक धर्म के प्रचार में इतना विलम्ब दृष्टिगत होता है इसकी रुकावट गोस्वामी तुलसीदास की रामायण और सूरसागर ही प्रतीत होते हैं।"

इस बुद्धि के बलिहारी!! भारत के धार्मिक इतिहास के विचारकों का तो यह कथन है कि जिस समय भारत में देव-वाणी के धार्मिक ग्रन्थों के प्रचार का ह्रास वा लोप होरहा था और राजसत्ता द्वारा तथा मुसलमान फ़क़ीरों के उद्योग से मुसलमानी मत का प्रभाव जनता के हृदय में दिनों दिन अधि-काधिक प्रसार पारहा था, वैदिक धर्म, आर्य-सभ्यता और उसकी परम्परागत कथाओं के संस्कारों के भारतीय सर्व साधारण के अन्तःकरण से तिरोहित होजाने की प्रबल सम्भा-वना थी उस समय सूर और तुलसी ने अपने सूरसागर और रामचरित मानस के रूपमें धार्मिक-साहित्य सुधा के पवित्र प्रवाह बहा कर संस्कृतानभिज्ञ जनता के मनोमालिन्य को धोया था। उनकी मूढता-मूर्छा को दूर भगा कर श्रुति स्मृति और पुराणों के गूढ तत्वों की संजीवनी शक्ति से उनको चेतना प्रदान करके इस योग्य बनाया था कि विदेशी सभ्यता और

परमत के कीटाणु उन पर आक्रमण न कर सकें और आज उसी का यह परिणाम है कि वेद शास्त्रों के दर्शन तक से सर्वथा वञ्चित ग्रामीण जनता भी वैदिक धर्म के कर्मवाद, पुनर्जन्म, दया, तितिक्षा आदि मूल सिद्धांतों से परिचित है और भारत के प्राचीन इतिहास के सार मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और कर्म योगिराज श्रीकृष्ण की पुण्य-गाथाओं से सज्ञान है। यदि सूर और तुलसी का आविर्भाव न हुआ होता तो भारत के समग्ररूप से मुसलमानी मत ग्रहण कर लेने पर उसको आज विशुद्ध वैदिक धर्म की ओर लाना उतना ही दुस्तर और दुःसाध्य होता जितना कि आज कल मुसलमानी मत के एकाधिपत्य पूर्ण देशों फ़ारस और काबुल आदि को, जो किसी समय वैदिक और बौद्ध धर्म के लीला-निकेतन थे, वैदिक धर्म की ओर आकर्षित करना अति कष्ट साध्य है। खेद है कि हमारे कई आर्य सामाजिक बन्धु पौराणिक मत और उसके आश्रित ग्रन्थों की समालोचना करते समय विशुद्ध वैदिक धर्म से उनके अति सामीप्य और मुसलमान ईसाई आदि विदेशीय Cemotic सेमेटिक मतों से उनके सुदूरवर्त्ती अन्तर को भूल जाते हैं। क्या वे अपने हृदय पर हाथ रख कर कह सकते हैं कि वेद शास्त्रों और राम चरितमानस तथा सूरसागर में उतना ही अन्तर है जितना कि पूर्वोक्त ग्रन्थों (वेदशास्त्रों) और गुलिस्ताँ, बोस्ताँ, मसनवी मौलाना रूम तथा जुलेखा आदि में है। यहाँ उपर्युक्त ग्रन्थों की भाषा पर विचार नहीं है, केवल उन के विषयों की विवेचना ही उद्दिष्ट है।

भारत के लिये वह दिन सचमुच बड़े अधःपतन का होगा जब उसमें से सूरसागर और रामचरितमानस का लोप हो जायगा वा उसकी जनता के हृदयों पर से उनके भावों का सिक्का उठ जायगा। हाँ यह दूसरा विषय है कि आज कल की नवीन-

परिस्थिति में आप उन ग्रन्थों का अविकल रूपमें पठन पाठन न कर और उनके सर्व सम्मत उपादेय अंशों के संक्षिप्त संग्रहों का अपना पाठविधि में प्रयोग करें। किन्तु जब तक सूर और तुलसी के अतिशायी वा समकक्ष महाकवि आपमें उत्पन्न न हों तब तक उनका आदर और सम्मान आपका अवश्य कर्तव्य है और उन के स्मारक पर्व मनाकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन तथा उन से उच्च भावों क ग्रहणके रूपमें उपकार और उपयोग की प्राप्ति परमोचित है।

दूसरी शंका मेरे संभ्रान्त सुहृद् श्री पं० हरिशङ्करजी दीक्षित वैद्य प्रधान आर्य समाज नगांना ने यह उपस्थित की थी कि आर्य्य पर्वावली में "यदि बुद्ध, शङ्कर, सूर और तुलसी के स्मारक पर्वों को स्थान दिया जाय तो मसीह, मोहम्मद, जुरदुश्त, नानक, कबीर, आदि धर्म प्रवर्तकों ने क्या अपराध किया है कि उन का नाम इस में शामिल नहीं किया गया?" यह आशङ्का उक्त मान्य महाशय ने गत मार्गशिर बदि ६ संवत् १९८१ वैं० के मुरादाबाद से प्रकाशित शङ्कर पत्र में प्रकाशित कराई थी। इनसे पूर्व उन्होंने उसको "एक आर्य" के नामसे अपने अनिर्दिष्ट नाम (गुमनाम) पत्र द्वारा श्री नारायण स्वामी जी कार्य-कर्तृ प्रधान श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी की सेवा में लिखकर भेजा था। यह नाम रहित पत्र जब मेरे दृष्टिगोचर हुआ था तो मैंने उसकी भाषाभंगी और लिपि प्रणालीसे यह अनुमान किया था, कि यह मेरे माननीय मित्र पं० हरिशङ्करजी वैद्य का लेख है परन्तु शङ्कर के उक्त लेख में प्रशंसित पंडित जी के उस पत्र को अपना स्वीकार करने से मेरा वह अनुमान निश्चय कोटि को पहुंच गया। यद्यपि इस विषय में कुछ अन्य महाशयों ने भी प्रकारान्तर से यही आशङ्का उपस्थित की थी तथापि मैंने उसको कुछ अधिक गौरव नहीं दिया था। किंतु

पं० हरिशङ्कर जी से विद्वान और विचार शील अपने मान्य मित्र की ओर से इस आशङ्का को उपस्थित पाकर तथा उनकी सम्मति को आदर देकर मैंने श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी सभा की ओर से प्रकाशित होने वाली पर्व पद्धति में से भारत के गौरवर्धन उपर्युक्त चार महापुरुषोंके स्मारक पर्व स्वयं निकाल दिये थे। सम्भव है कि श्रीनारायण स्वामी जी कार्यकर्तृ प्रधान ने भी पूर्वोक्त पद्धति के रचना समय इन पंक्तियों के लेखक को उक्त चार पर्वोंके रखने की अनुमति देकर भी पद्धतिके विचार समय उक्त आक्षेपों के कारण ही उक्त चार पर्वों को अपनी सभा की ओर से प्रकाशित पद्धति में सम्मलित करने की स्वीकृति न दी हो, मेरी क्षुद्रमति और आर्य्य समाज के अनेक गण्यमान्य विद्वानों की सम्मति में आर्य पर्वावली में उन का समावेश सर्वथा संगत है। उक्त आशङ्का के निवारक मेरे हेतु निम्न लिखित हैं—

जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया है, बुद्ध भगवान्, श्री शंकराचार्य, श्री सूर और तुलसी के स्मारक पर्व आर्यपर्वावलि में उनके संकीर्ण वा रूढ़ मतप्रवर्तकों के रूप में नहीं रक्खे गए थे प्रत्युत उनके आर्यसंस्कृति और सभ्यता के प्रमुख उद्धारक और भारत के गुरुगौरववर्धक होने के रूप में उनकी आर्यपर्वावलि में स्थापना परमावश्यक है। यद्यपि पूजनीय महापुरुषों की योग्यता का तुलनात्मक विचार कुछ अनुचित और कटु कार्य है परन्तु अपने कृपालुओं की शंका के समाधानार्थ मुझ को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी इस कठोर कर्म में प्रवृत्त होना पड़ रहा है।

भारत भिन्नदेशाविर्भूत ज़रतुश्त, ईसाप्रभु, और मोहम्मद महोदय धर्म विशेष संस्थापक भले ही हों और चाहे उन्हों ने धर्म के किसी एक अंग का विशेष प्रचार भी किया हो परन्तु

उनका आर्यसंस्कृति से सर्वथा विभिन्न सेमेटिक Cemetic= आर्येतर) सभ्यता से सम्पर्क। पुनर्जन्म आदि वैदिक विचार-परम्परा से वैपरीत्य और उनका अपौरुषेय वेद से वैमुख्य उनको वैदिकधर्मावलम्बी आर्यसमाज और सामान्य आर्यमात्र से बहुत ही दूर जा बिठलाते हैं। उनके अपने साम्प्रदायिक या मतानुयायियों का तो उनके (ईसा प्रभु आदि के) Christmas day बड़ादिन आदि मनाना युक्तियुक्त और संगत हो सकता है और वैदिक धर्मावलम्बियोंका सहवासियों वा पड़ोसियों के रूपमें उन महापुरुषों के आदरार्थ उनमें सम्मिलित होना समुचित माना जा सकता है परन्तु वेदानुयायियों का वेद में प्रामाण्यबुद्धि वर्जित तथा पुनर्जन्म आदि मूल वैदिक सिद्धान्तों से पराङ्मुख महापुरुषों के स्मारक दिन अपनी ओर से मनाने में कोई भी हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता। आर्यमात्र का आर्य सभ्यता और आर्य संस्कृति तथा धर्म के किन्हीं सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर अपना विशेष पृथक् संगठन विद्यमान है और उसी को दृढ़ पुष्ट और चिरस्थायी बनाने के लिए उन के पृथक् सामान्य (सम्मिलित) संस्कारों और पर्वों की आयोजना की गई है। क्या बृद्ध भारतीय राष्ट्र को अहिंसा धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध और लुप्तप्राय वर्णाश्रम धर्म की वैदिक मर्यादा के पुनः प्रतिष्ठापक और देववाणी के पुनरुद्धारक श्री० शंकराचार्य के समान ही ईसा प्रभु और मोहम्मद महोदय का अभिमान हो सकता है। क्या आर्यावर्त आर्यभाषा (हिन्दी) के महा कवि सूर और तुलसी के सदृश ही सादी और हाफिज से गौरवान्वित हो सकता है, क्या उपर्युक्त भारतीय धर्म-संस्थापक युग्म भगवान् बुद्धदेव और जगद्गुरु श्री शंकराचार्य और सूर और तुलसी महाकविद्वय के द्वारा वैदिक धर्म के मूल सिद्धान्तों—दया, पुनर्जन्म, कर्मवाद, वर्णाश्रम धर्म और

आत्मचिन्तन—तथा भारतीय सभ्यता—सरलता, संयम और तितिक्षा का जो प्रबल प्रचार और संरक्षण संसार में हुआ है उसका शतांश भी विदेशीय धर्मसंस्थापकों द्वारा हो सका है। वस्तुतः संसार के सारे मतमतान्तरों ने बुद्ध और शङ्कर के सिद्धान्तोंकी छाया ग्रहण कर के ही जन्म ग्रहण किया है। ईसाई मत में तो बौद्धधर्म के दया और सहिष्णुता धर्म का आभास प्रत्यक्ष हो पाया जाता है। इस विषय के प्रतिपादक योरपीय पण्डितों से प्रणीत अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। मोहम्मदीय मत की वहदानियत और उसका प्रचारक उस का कलमा (ला इलाह इल्लल्लाह) भी शङ्कर के "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" की प्रतिच्छाया मात्र हैं। तब बुद्ध और शङ्कर आदि गुरुओं को छोड़ कर उनके शिष्य प्रशिष्य ईसा और मोहम्मद महोदय के स्मारक दिन वैदिक आर्य क्यों मनाएं यह समझ में नहीं आता।

प्राप्त आक्षेपपत्रों का तृतीय आक्षेप गंगावतरण, व्यासपूजा, शरत्पूर्णिमा, दम्पतीचतुर्थी, भ्रातृद्वितीया, गोपाष्टमी पर्वों की पौराणिक वा हिन्दू पर्वों से समानता वा रूपान्तर तथा वैदिक धर्मावलम्बी आर्य समाज में उन के प्रचालन के अनौचित्य पर है। इस आक्षेप के मूल की अन्वेषणा (खोज) बतलाती है कि उस का आधार आज कल के कई आर्य सामाजिकों के इस विचार पर है कि पौराणिक वा हिंदू मत भी आर्य समाज से उतना ही दूर है, जितना कि ईसाई वा इस्लाम मत हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए कुछ आर्य समाजी इस बात को भूल जाते हैं कि आर्य समाज और पौराणिक (हिंदू) धर्म के प्रामाण्य ग्रंथ वेद और शास्त्र तथा उन का इतिहास एक ही हैं और उन के षोडश संस्कारों में भी नाम मात्र की भिन्नता है। दोनों के धर्मों के मूलतत्त्व, कर्मवाद, पुनर्जन्म, वर्णाश्रम भी बिलकुल एक हैं। उन की सभ्यता और संस्कृति में भी कुछ

अन्तर नहीं है। इस अवस्था में यह असम्भव है कि उन के पर्वों वा तेवहारों में समानता न हो। पर्व वा तेवहार विशेष २ अवसरों पर किन्हीं प्रिय भावों के पोषणार्थ, हर्षोल्लास प्रकाशनार्थ तथा अपने माननीय ऐतिहासिक पुरुषों के स्मरणार्थ मनाए जाते हैं। जब आर्य सामाजिक और हिंदुओं की मूल धार्मिक विचार परम्परा एक है, आनन्दानुभव की प्रवृत्तियां भी समान हैं और इतिहास में भी एकता है तो इन विषयों के पोषक पर्वों में भी एकाकारता अवश्यम्भावी और अनिवार्य है। जब श्रीकृष्ण और श्रीराम, श्री भगीरथ और श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास, आदि अपने पूजनीय पूर्व पुरुषों का दोनों को समान अभिमान है तो इन महापुरुषों के स्मारक पर्व भी दोनोंही इनकी स्मारक तिथियों पर मनाएंगे। क्या श्रीरामनवमी और श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का प्रत्येक आर्य सन्तान (हिंदुओं वा आर्यसमाजी) को समान अभिमान नहीं है? क्या भगीरथ द्वारा गंगावतरण की घटना प्रत्येक आर्यके चित्तमें (चाहे वह आर्यसमाजी हो वा पौराणिक हिन्दू) गौरव के भाव नहीं भर देती है? क्या उस का मन व्यास और वाल्मीकि का स्मरण आते ही बल्लियों नहीं उछलने लगता है? जब यह अवस्था है तो गंगावतरण और व्यास पूजा के पर्व मनाने पर आक्षेप कर्ताओं के आक्षेप उन की अपने पूर्व पुरुषों के प्रति श्रद्धाहीनता और अपने पौराणिक हिन्दू भाइयों के प्रति विचार संकीर्णता का ही परिचय देते हैं। क्या भारतीय हृदय के लिए वसन्त के समान ही शरदृतु भी हर्षोल्लास प्रकाश का अवसर नहीं है? तब न जाने शरत्पूर्णिमा के पर्व पर क्यों आक्षेप है? जब दाम्पत्य प्रेम का प्रकर्ष वा भ्रातृभगिनी के स्नेह का संवर्धन प्रत्येक आर्य-को अन्तस्तल से अभीष्ट है तो इन भावों को पुष्ट करने वाले दम्पती चतुर्थी और भ्रातृद्वितीया पर क्यों आशंका उठाई

जाती है? कई महानुभावों को दम्पती-चतुर्थी में करवा चौथ के चित्रित करवे से पौराणिक गृहिणियों की चन्द्रार्चा (अर्घ्यप्रदान) और भ्रातृ द्वितीया में यमद्वितीया की कथा की गन्ध आई है। कौन कहता है कि आर्य-सामाजिक देवियाँ भी उस दिन करवे से चन्द्रमा को अवश्य अर्घ्य देवें और भ्रातृद्वितीया के दिन यमुना में स्नान करके यमयातना से छूटने का उद्योग करें? किन्तु इन पर्वों के द्वारा जो पवित्र पतिप्रेम और निर्व्याज भगिनीस्नेह के उच्च भाव चिरकाल से पोषित होते चले आरहे हैं, उनके पोषण का साधन इन दोनों पर्वों का परिवर्तित और परिमार्जित रूप में मनाकर अक्षुण्ण बनाये रक्खा जाय तो क्या क्षति है? इन दोनों भावों के पोषक इन पर्वों को विनष्ट करके आप इन भावों के पोषक अन्य किन उत्कृष्टतर साधनों की उद्भावना कर सकते हैं। फिर आर्य देवियों के मनो मन्दिरों में से इन दोनों पर्वों की प्रतिष्ठा के परंपरागत भाव, जिनका सहज स्रोत उनकी अनुपमेय पतिपरायणता और अनन्य दुर्लभ भ्रातृवत्सलता में स्मरणातीत काल से विद्यमान है, किस प्रकार मिटाए जा सकते हैं। यही कारण है कि बड़े बड़े कट्टर आर्य समाजियों और आर्य-समाज के लीडरों तक की गृहदेवियाँ करवा चौथ और भैया-दोयज के तेवहार मनाती हुई देखी गई हैं, क्योंकि उन के मन में से पतिभक्ति और भ्रातृस्नेह तिरोहित नहीं होसकते, यह नहीं होसकता कि उन की पौराणिक भगिनियाँ तो पति के मंगलार्थक और भ्राता के क्षेमपरक तेवहार का आनन्द मनाएं और वे उस दिन मन मसोसे उदास बैठी रहें। इस अवस्था में आर्य-सामाजिक पुरुष दो ही मार्गों का अवलम्बन कर सकते हैं। या तो उन की गृह देवियाँ इन पर्वों को यथा पूर्व पौराणिक रूढ़ि के रूप में मनाती रहें अथवा उन का परिमार्जन करके

उन को आर्य समाज के सिद्धान्तों से अविरुद्ध आर्य पर्व का रूप दिया जाय और उन को पातिव्रत्य, दाम्पत्य प्रेम और भगिनी भ्रातृस्नेह की अभिवृद्धि का अमोल साधन बनाया जाय।

व्यास पूजा के पर्व को पुनरुज्जीवित कर के हम इस स्वार्थमय गुरुभक्ति के ह्रासकाल में विद्यागुरुओं के प्रति शिष्यों की श्रद्धा और कृतज्ञता के भावों का फिर से पुष्ट कर सकेंगे। व्यास पूजा के दिन अपने विद्यागुरु के पूजन में कुछ भी पौराणिकता प्रतीत नहीं होती प्रत्युत यह प्रथा सर्वथा वेदानुमोदित है।

गोपाष्टमी पर्व के द्वारा आर्य मात्र को ऐक्य बिन्दु पर एकत्रित कर के संगठित करने वाली समस्त भारत के जीवन की अवलम्ब गो माता की रक्षा के भाव का परिपोषण अभिप्रेत है। न जाने हमारे किन्हीं बन्धुओं को इस में कौनसी पौराणिकता दिखाई देती है। गो रक्षा प्रत्येक आर्य सन्तान तथा वैदिक धर्मावलम्बी का परम धर्म है। इस परम धर्म का जिस प्रकार भी प्रचार और परिपोषण हो सके उस को हाथ से न जाने देना चाहिये और गोपाष्टमी पर्व के अवसर से यह कार्य भले प्रकार सिद्ध हो सकता है।

आर्य पर्वों के विषय में एक बात और भी विचारणीय है कि जिस प्रकार वेदानुयायी आर्य सामाजिकों और पौराणिकों के षोडश संस्कारों, कर्मवाद तथा पुनर्जन्म आदि मूलसिद्धान्तों और दायभाग आदि विधानों में एकता है उसी प्रकार इन दोनों समुदायों के पर्व (त्योहार) भी एक हैं। जिस प्रकार आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कारविधि द्वारा आर्य सामाजिकों के लिए भी उन्हीं १६ संस्कारों का विधान किया है जो पौराणिकों में प्रचलित है

और अपने अनुयायियों के लिए कोई पृथक् संस्कार नहीं बतलाए उसी प्रकार उन का आर्य सामाजिकों के लिए किन्हीं पृथक् पर्वों का उपदेश न देना यह प्रमाणित करता है कि वे आर्य सामाजिकों के लिए किन्हीं पृथक् पर्वों की आवश्यकता न समझते थे। उन का इस विषय में मौन "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यात् असति ह्यनुमानम्" (पूर्वमीमांसा अध्याय १ पाद ३ अधिकरण २ सूत्र ३) इस पूर्वमीमांसा के सिद्धान्त के अनुसार यही निश्चय कराता है कि महर्षि दयानन्द को संस्कारों के समान आर्य सामाजिकों और हिन्दुओं के लिए पर्व भी एक ही अभीष्ट और मान्य थे। महर्षि दयानन्द मूर्तिपूजा और मृतकश्राद्ध आदि कुछ मन्तव्यों को छोड़ कर पौराणिक हिंदुओं का मुसलमान ईसाई आदि विदेशी मतानुयायियों की अपेक्षा आर्य समाज के बहुत समीपतर समझते थे। उन का विहित इन की—उपर्युक्त संस्कारों, पर्वों और दायभाग आदि की—एकता इस का प्रबल प्रमाण है। कुछ आर्यसामाजिकों की अपने हिन्दू बंधुओं से प्रत्येक विषय में पृथक् रहने वा विपरीत जाने की प्रवृत्ति आर्य समाज के संस्थापक आचार्य महर्षि दयानन्द की विचार परम्परा के सर्वथा विपरीत है और यह प्रवृत्ति आर्य जाति के संगठन के लिए बड़ी घातक है और उसी प्रकार के घोर विरोध की जन्म दाता हो सकती है जो कट्टर मुसलमानों में हिंदुओं की प्रत्येक बात से विपरीत चलने के विधान में पाया जाता है।

किसी जाति के दृढ संगठन के लिए पर्व वा तेवहार सब से बढ़ कर प्रभावशाली साधन होते हैं। समस्त संसार के विद्वान् मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि किसी जाति के पर्व उस जाति का जीवन हैं। जो जाति अपने पर्वों को उन के यथार्थ रूप का ध्यान कर समुचित श्रद्धा, पूर्ण प्रेम और असीम

उत्साह से मनाती है उसी जाति को वस्तुतः उन्नत और उत्कृष्ट जाति कह सकते हैं। इस के विपरीत जो जाति अपने जातीय पर्वों के लाभालाभ और गुणदोष विवेचन से शून्य है और उनको उद्देश्यरहित रीति विवर्जित बेढङ्ग प्रकार से रूढि के रूप में विशृङ्खलता से मनाती है वा केवल उन की लकीर पीटती है वह सभ्य और उन्नत जातियों के समक्ष पतित और मृतप्राय मानी जाती है। आर्य समाज के विविध सम्प्रदायों में कम से कम पर्वों के मनाने में तो सुशृङ्खला, एकाकारिता और एकरूपता दृष्टिगोचर होनी चाहिए। आर्य सामाजिक भाइयों को इस विषय में अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग न पकानी चाहिए प्रत्युत अपने अन्य हिंदू भाइयों के साथ मिल कर अपने पर्वों का परिमार्जित और परिष्कृत रीति से मनाना चाहिए।

जिस प्रकार गङ्गोत्तरी की पवित्र और निर्मल धारा भिन्न प्रकृति देशों में लम्बी यात्रा करके कलकत्ते पहुंच कर मलिन और अपेय होगई है उसी प्रकार इस पतित समय में अविद्या के घोर अन्धकार में आर्य्यजाति की पर्वावलि का वास्तविक स्वरूप युगयुगान्तर के पश्चात् काल की कुटिल गति से विकृत और बेडौल बन गया है। कराल काल की क्या ही विचित्रगति है कि वासन्ती नवसस्येष्टि या होलिका महोत्सव आदि कई पर्वों की आकृतियाँ तो ऐसी बिगड़ गई हैं कि वर्तमान समय में उन का अभिज्ञान (पहिचान) भी दुस्तर प्रतीत होता है। आर्य्य-जाति के सुपथ प्रदर्शकों और शिष्टों का परम कर्तव्य है कि वे अपने सनातन और परमोपयोगी पर्वों के शरीर पर से इस चिरसञ्चित कालिमा और मलिनता को अपने विवेकवारि से प्रक्षालित करके उनका शुद्ध और सत्यस्वरूप संसार में प्रच-लित करें और अपनी जाति में उनके मनाने की परिष्कृत परि-

पाटी का प्रचार करें, साथ ही समय २ पर वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति के मुख्य अंगों के पुनरुद्धारकों और भारतीय राष्ट्र के गौरववर्धकों—दया के अपूर्व अवतार भगवान् बुद्ध और जगद्गुरु शङ्कराचार्य्य, राष्ट्रभाषा हिन्दी के सूर (सूर्य्य) और शशि सूर और तुलसी, यवन अत्याचार से गोब्राह्मण के रक्षक श्रीशिवा जी तथा इस २० वीं शताब्दी में कलिकाल के अद्वितीय वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द और उनके अनुगामी वैदिक धर्म पर प्राण न्यौछावर करने वाले धर्मवीर आर्य्यपथिक पं० लेखराम और मुनिवर पं० गुरुदत्त—के ऐतिहासिक स्मारक पर्वों के मनाने की नव योजना करके आर्यजाति में नवजीवन का सञ्चार करें जिससे जगत् की आदि गुरु यह आर्य्य जाति सुसंगठित और बलिष्ठ होकर अपने पूर्व गौरव और महत्व को प्राप्त करे और संसार की सभ्य जातियों के सामने अपना मस्तक ऊँचा कर सके। आशा है कि आर्य सन्तान की जीवित जागृत संस्थाएँ (आर्यसमाज और हिन्दू सभा आदि) इस पर्वावली और आर्य पर्व पद्धति ग्रन्थों को, जिनमें आर्य सन्तान (हिंदुओं) के उन्नायक सब पर्वों के विषय में महापुरुषों की जीवनियों सहित विवेचनात्मक निबन्ध और उनके मनाने की परिष्कृत पद्धतियाँ लिखी हैं, आश्रय प्रदान करके इस लघु लेखक के निःशुल्क परिश्रम और निष्काम उद्योग को सफल करेंगी और अपने पर्वों के सोत्साह और ससमारोह मनाने की परिमार्जित परिपाटी प्रचलित करके अपने हिन्दू जाति के सङ्गठन को दृढ और पुष्ट करने के पुण्य की भागी बनेंगी। मङ्गल मूल महेश के आशीर्वाद और अनुग्रह से यह सङ्कल्प पूर्ण हो, यही पुनः पुनः प्रार्थना है।

उदाराशय कृतविद्य महानुभावों की सेवा में सानुनय निवेदन है कि इस लघु लेखक की मन्दमति और अल्पज्ञतावश इन

क्षुद्र निबन्धों के विषय-विन्यास और भाव प्रदर्शन में जो दोष रहगये हों तथा मुद्रणालय के कर्मचारियों के दृष्टि-दोष से उनके मुद्रण में जो त्रुटियाँ रही हों, उसको अपनी महोदारता और कृपालुता से क्षमा-प्रदान करके विनीत निवेदक को उनसे सूचित करने की कृपा करें, जिससे आगामी संस्करण में, यदि उसका अवसर आये, तो उनका परिमार्जन होजाय। उनके इस असीम अनुग्रह के लिये यह लघु सेवक उनका चिरकृतज्ञ रहेगा।

इन प्रबन्धों के लिखने में जिन ग्रन्थों से जो अमूल्य सहायता मिली है, उसके लिये विनम्र निबन्धक उनका अनुगृहीत और आभारी है।

इन दोनों पुस्तिकाओं के लिपिबद्ध करने और संशोधन में प्रिय पं० मदनगोपाल विद्यालङ्कार तथा विद्यावारिधि पं० सिद्ध गोपाल काव्यतीर्थ कविरत्न तथा पुत्री सुशीला देवी विदुषी धर्मप्राज्ञा ने असीम साहाय्य प्रदान किया है। उसके बिना इन का प्रस्तुत-रूप-धारण असम्भव-प्राय था। अतः उनके लिये भी लेखक आशीर्वाद-पूर्वक कृतज्ञता प्रदर्शित करता है।

हल्दौर, ज़िला बिजनौर,
उत्तरकोशल प्रदेश (वर्तमान संयुक्त प्रान्त)
माघशुक्ला वसंत पंचमी सं० १९८१ वै०

विद्वद्वशंवदः
भवानीप्रसादः

—✱—

पर्व सूची

पर्व नाम	तिथि	पृष्ठाङ्क
श्रीहनूमज्जयन्ती	चैत्रपूर्णिमा	१
श्री सूरदास जयन्ती	वैशाखसुदि ४	१८
श्री शिवराजजयन्ती	वैशाखसुदि अक्षयतृतीया	३२
श्री शङ्कराचार्य जयन्ती	वैशाख सुदि ५	४५
श्री बुद्धदेव जयन्ती	वैशाख पूर्णिमा	७६
गंगावतरण	ज्येष्ठ सुदि १०	९६
व्यास पूजा	आषाढ पूर्णिमा	१२१
श्री तुलसी दास दिवस	श्रावण शुक्ला ७	१३४
विरजानन्द निर्वाण	आश्विन बदि १३	१५८
शरत्पूर्णिमा	आश्विन पूर्णिमा	१८७
दम्पती चतुर्थी	कार्तिक बदि ४	१८६
भ्रातृद्वितीया	कार्तिक सुदि २	१९६
गोपाष्टमी	कार्तिक सुदि ८	२०१
भीष्माष्टमी	माघ सुदि ८	२२१
गुरुदत्तदिन	चैत्र बदि १४	२२६

—०—

ॐ ओ३म् ॐ

आर्य्य-पर्वावली।

द्वितीय भाग।

श्रीहनुमज्जयन्ती।

—०—

चैत्रपूर्णिमा।

(दोहा)

रहे जन्म से मृत्यु लों, ब्रह्मचर्य-व्रतधार।
समझो ऐसे वीर को, पौरुष पुरुषाकार॥
बाल-ब्रह्मचारी जहां, उपजें परमोदार।
शंकर होता है वहां, सबका सर्व-सुधार॥
सुग्रीव का सु-मित्र, बड़े काम का रहा।
प्यारा अनन्य-भक्त, सदा राम का रहा॥
लंका जलाय, काल, खलों को सुझादिया।
मारे प्रचण्ड, दुष्ट दिया, भी बुझा दिया॥
हनुमान् बली, वीर-वरों में प्रधान है।
महिमा-अखण्ड, ब्रह्मचर्य की महान् है॥१॥

(पं० नाथूराम शंकर, शर्मा)

भारतवासी आबालवृद्ध वनिता श्रीहनुमान् जी का नमस्य नाम जानते हैं। श्रीरामकथा से परिचित पुरुषों को यह भी ज्ञात है कि वे मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के अनन्यभक्त, सेवक थे और उन्होंने लंकेश्वर रावण द्वारा हरी हुई श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी श्रीसीता की खोज लगाई थी तथा लंका-विजय और पापी रावण के वध में श्रीरामचन्द्र को असीम सहायता दी थी। प्रत्येक वर्ष विजया दशमी के अवसर पर रामचरित्र का रामलीला रूप से, जो बहुधा भद्दा अभिनय किया जाता है, उसमें श्रीहनुमान् जी का स्वरूप और लीला दिखलाई जाती है। उसमें हनुमान् जी को पूँछ और बन्दर का चेहरा लगा कर बन्दर के रूप में दिखलाया जाता है और किसी बलवान् पुरुष पात्र को उनकी भूमिका (वेष) दीजाती है। इस से उनके विषय में सर्वसाधारण के ज्ञान की सीमा इतनी ही है कि श्रीहनुमान् जी अतुल-बल-धारी अलौकिक वानर थे। नगरों में रहकर मनुष्यों को इतना कष्ट देने वाले बन्दर उन्हीं के वंशज माने जाकर हिन्दुओं द्वारा पूजे जाते हैं, वे खूब खिलाए पिलाए जाते हैं। अलौकिक शक्ति-शाली होने के कारण मल्ल योद्धा और शारीरिक व्यायाम करने वाले श्रीहनुमान् जी को अपना इष्टदेव मानते हैं और व्यायाम शालाओं और अखाड़ों में तेल और सिन्दूर से रञ्जित उनकी मूर्तियों और लाल वस्त्र की ध्वजाओं की स्थापना करके उन की पूजा करते हैं।

भारत के प्राचीन इतिहास पर अविद्यान्धकार का ऐसा भारी परदा पड़ा हुआ है कि उसकी ओट में हमारे गौरव-धन पूजनीय पूर्वजों का सत्यस्वरूप भी हमारी दृष्टि से बिलकुल

ओझल होगया है। मिथ्याभावनाओं और कपोल-कल्पनाओं ने उनको मननशील मानवयोनि से पृथक् करके पशु-पक्षियों और लोकान्तर प्राणियों की पंक्ति में लाबिठलाया है और उनको ऐसे रूप देदिये हैं कि उनकी वास्तविकता का अभिज्ञान भी दुस्तर है तो भी यदि सूर्यवंशावतंस श्रीरामचन्द्र और महावीर हनुमान् जी के उच्चचरित्रों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन और अन्वेषण कियाजाय तो ज्ञात होता है कि श्री हनुमान् जी भी अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र के समान ही एक नररत्न थे।

यद्यपि उनके बन्दर होने का भ्रम चिर-कालीन और चिर-रूढ़ प्रतीत होता है और वाल्मीकीय रामायण के अन्तिम आधुनिक संस्करण तक में यत्र तत्र उसकी स्पष्ट गन्ध आती है तथापि ऊहापोह करने से इस भ्रान्ति का निराकरण और उसका मूलस्रोत भी उक्त श्रीवाल्मीकीय रामायण में ही उपलब्ध होता है।

श्रीवाल्मीकीय रामायण में इस निबन्ध के नायक के मुख्य नाम "वानर" और "हनुमान्" आते हैं और इन नामों में ही बन्दर की भ्रान्ति का मूल विद्यमान है। संस्कृतवाणी में पर्यायवाची शब्दों के प्राचुर्य के कारण पद्यरचना का क्षेत्र कितना विस्तृत है यह संस्कृतकाव्यकोविदों को भली प्रकार विदित है। यही कारण है कि संस्कृत में ज्योतिष तथा वैद्यक आदि वैज्ञानिक विषय भी प्रायः पद्य में ही वर्णित हैं। संस्कृत पद्यरचना के सौकर्य के लिए यह सर्वव्यापी नियम बनगया है कि किसी पद के यावत्पर्याय उस पद के स्थान में प्रयुक्त हो सकते हैं। उनके प्रयोग के समय यह विचार नहीं किया

जाता कि अमुक शब्द का अमुक पर्याय किस प्रकार बन गया है और वह अपने वाच्य के स्वरूप का कहाँ तक बोधक या द्योतक है। इसी नियमानुसार वाल्मीकीय रामायण आदि संस्कृत ग्रन्थों में वानर के जितने भी शाखामृग तथा प्लवंगम आदि पर्यायवाची शब्द हैं, वे सबके सब श्री हनुमान् जी के लिए प्रयुक्त हैं।

काल की कुटिल गति से भारत में अविद्याशानवी का ताण्डव होने पर जब ऐतिहासिक विवेकका अन्तर्धान होगया, तो इन शाखामृग और प्लवंगम आदि नामों को देखकर बुद्धि-विशारद लोग हनुमान् जी को वस्तुतः बन्दर समझने लगे और उनके नख पुच्छ आदि वानरों के अवयवों की भी कल्पना कर के उन्होंने उनको पूरा बन्दर बना दिया। यह बात बौद्ध और जैनमतों के विप्लवमें प्राचीन भारतीय साहित्य के सर्वनाश के पश्चात् पौराणिकाभ्युदय के समय पौराणिक मतसे पूर्ण प्रभावित आर्यसाहित्य के पुनारचनायुग की है। बौद्ध और जैनमत के प्रादुर्भाव से पूर्व पुराण और इतिहास प्रायः पर्यायवाची रूप से प्रचलित थे और पुराणोंका मुख्य विषय इतिवृत का प्रतिपादन था। इतिवृत विद्या के महत्व को लक्ष्य में रख कर ही "इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः" की उक्ति प्रचलित हुई थी। पौराणिकों, पुराणपाठकों वा ऐतिहासिकों का पद ही पृथक् नियत था और उन का कर्त्तव्य पुराणों के प्रणयन और प्रवचन द्वारा इतिहास विद्या की रक्षा था। उन में सूत एक प्रसिद्ध पुराणप्रणेता होगये हैं। उनके नाम पर उनके वंशधर वा अन्य पुराणपाठक भी सूत कहलाते थे, परन्तु बौद्ध और जैन संप्रदायों के विप्लव के

समय यह सब व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट होगई और आगे चल कर शुद्ध बौद्ध और जैनमतों में भी विकृति आजाने पर उनमें बुद्धों और तीर्थंकरोंकी महिमा बढ़ानेवाली अलौकिक कथाओं का जातकों और जैनपुराणों के रूपमें प्राबल्य बढ़ने लगा। इन बौद्धजातकों और जैनपुराणोंमें कहीं कहीं आर्य्य इतिहास का रूप ही सर्वथा बदल दिया गया है। बिल्कुल कई स्थानोंमें उनमें ऐतिहासिक पुरुषों और ऐतिहासिक घटनाओं का क्रम भी कुछ का कुछ वर्णित है, जो आर्यपुराणों से विपरीत है। अन्तमें बौद्ध और जैनमत भी कपोलकल्पित रूढ़ियोंके पुञ्जमात्र रहकर भारत से लुप्तप्राय होगये और नवाभ्युदित पौराणिक मत ने उनका स्थान लेलिया। इस पौराणिकाभ्युदय काल को प्राचीन आर्यसाहित्यका पुनरुद्धार काल (Age of Renaissance) कह सकते हैं। इसी समय आन्ध्रनरेश हाल वा हालेय के शासन काल में जगद्गुरु आदि शंकराचार्य की संरक्षतामें विक्रमादित्य से साढ़े चारसौ वर्ष पूर्व विस्मृतप्राय प्राचीन पुराणादि आर्य्य धर्मग्रन्थों के नवीन संस्करण लिपिबद्ध किये गये, पर उन ग्रन्थों के इन नव संस्करणों में विकृत और विलुप्तप्राय बौद्ध और जैन तथा नाना मतमतान्तरों के मिथ्या विश्वास मूलक और लोकोत्तरवर्णनपरक प्रभावों, संस्कारों और कथानकों का भी संक्रमण होगया, जो समय पाकर आगे उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। जनता में लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण कथाओं की कामना तथा अद्भुत रसकी रुचि इतनी प्रबल होती गई कि पुराणपाठक सूत वा कथक्कड़ लोग नित नई २ कथाएं कर कथारसिक जनता का कर्णतर्पण करते रहते थे। वर्तमान १८ पुराणों की बृहत्काय पोथियों के आविर्भाव का यही काल और क्रम है। उनमें ऐतिहासिक तथ्यों और उपादेय

अंश की मात्रा बहुत ही स्वल्प रहगई है और कपोलकल्पित कथाओं और कविता की अतिरञ्जना के कूड़ा करकट ने उस को इतना घेर लिया है कि उस में से युक्तियुक्त तथा सार-भाग, तथा शुद्ध इतिहास का परिच्छेदन वा पृथक् करना अतीव दुष्कर कार्य होरहा है। उस काल में नई नई पौराणिक कथाओं के रचनाप्राचुर्य की उपमा आगे चलकर राजपूतों के समय में भाटों द्वारा (ये भाट भी प्राचीन ऐतिहासिकों वा सूतों का अपभ्रंशमात्र थे) अपने आश्रयदाता नरेशों के वंश के कल्पित कथाविस्तार और आजकल के वर्षाकालीन वर्षाभुओं (बरसाती मेंढकों) के प्रतिरूपक उपन्यास सृष्टिसे दी जासकती है। जिसप्रकार राजपूती काल के भाटों ने चन्द्रबरदाई के नामसे पृथ्वीराज रासो आदि ग्रन्थों की रचना करके पृथ्वीराज के समय ऐतिहासिक घटनाओं को अनेक कपोलकल्पित वर्णनों से भरदिया है और उन से कान्यकुब्जे-श्वर जयचंद्र के नाम को मिथ्या कलंकित किया है। (आज कल ऐतिहासिक शोधसे जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता के स्वयं-वर आदि की कथाएँ निर्मूल प्रमाणित होती हैं। देखो नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण प्रथम भाग, पृष्ठ ३७७ से आरब्ध "अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना" शीर्षक प्रसिद्ध ऐतिहासिक रायबहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा का विस्तृत निबंध, और जिस प्रकार आधुनिक उपन्यासकार आजकल ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर इतिहास को तोड़ मरोड़ रहे हैं, जिससे आगे जाकर भावी संततियों को यह भी पता लगाना कठिन होगा कि ऐतिहासिक घटना कितनी थी और औपन्यासिक वेधा महोदय की उपन्यास सृष्टि कौनसी है? उसी प्रकार उपर्युक्त पौराणिक समय में ऐतिहा-

सिक व्यक्तियों के नाम सादृश्य को लेकर असंख्य अलौकिक कथाओं की सृष्टि सूतों द्वारा होती गई और पुराणों की वर्तमान विपुल ग्रन्थराशि का प्रादुर्भाव हुआ। इस गड़बड़ाध्याय में से किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का पूरा पूरा क्रमबद्ध ऐतिहासिक वर्णन उपलब्ध होना असम्भव है और उसके अभाव में अनुमान के अन्धे की लकड़ी को लेकर ही टटोलना पड़ना है। उदाहरणार्थ–पवनसुत, वानरवंशी, श्री हनुमान् जी की कथाको ही ले लीजिये। पुराणों से केवल इतना ही ज्ञात होसकता है कि वे पवन के वीर्य से अंजना में उत्पन्न हुए थे। पौराणिकों ने पवनसुत शब्द देख कर हनुमान् जी की माता और केसरी की पत्नी अञ्जनामें पंचधन्वा पीड़ित प्राकृतिक पवन वा भौतिक वायु द्वारा गर्भाधान की कल्पना करली। कहीं तो यह कथा लिख दी गई कि अञ्जना के वस्त्रों में वायु के प्रवेशमात्र से ही उसको गर्भ रहगया था और कहीं (तुलसीकृत रामायण किष्किन्धा काण्डका) यह उल्लेख करदिया कि अञ्जना गंगातीरवर्ती चारों ओर से बन्द किसी कोठरी में तपस्या कर रही थी और उसमें केवल एक छिद्र पवनप्रवेशार्थ खुला हुआ था, उसी छिद्र से गौरीरूपधारी विष्णु पर मोहित शिवजी का अमोघ वीर्य स्खलित होकर और गंगा के जल में मिल कर तथा पवन द्वारा बहाया जाकर अञ्जना तक पहुंच गया और उस वीर्यमिश्रित जल के पान से अञ्जनामें गर्भाधान होगया। पौराणिकों की उर्वरा मनःकल्पना में शायद यह बात न आ सकती थी कि पवन 'पावयतीति पावनः', इस व्युत्पत्ति से किसी पंक्तिपावन पुरुषरत्न का भी नाम होसकता है और श्रीहनुमान् जी उसी के वीर्य से केसरी के क्षेत्र (पत्नी) में उत्पन्न हुए थे।

वानर शब्द से पौराणिक प्रतिभा को यही कल्पना सूझी कि वानर शाखामृग (बंदर) ही होसकता है, वानर (विकल्पेन नरः) इस निर्वचनानुसार वा क्षिप्रकारिता की लक्षणासे किसी अर्धमानुष वा वनमानुष (वनवासी जन) अर्धसभ्य स्वस्फूर्त्ति के लिये विख्यातवंश का नाम नहीं होसकता । हनुमान् नाम से पौराणिक उत्पादक मस्तिष्क में इस लम्बी कथा का जन्म होगया कि फल-प्रिय कपि जाति होने के कारण हनुमान् जो जन्मते ही सूर्य को फल समझ कर ग्रास करने दौड़े थे । उसी समय राहु भी सूर्य का ग्रास करने आया था । हनुमान् से मार खाकर राहु इन्द्र के पास अपना अभियोग लेकर गया और इन्द्र ने हनुमान् को यह दण्ड दिया कि अपने वज्र की मार से इसकी हनु (ठोड़ी) टेढ़ी करदी और तभी से इन का नाम हनुमान् पड़गया । पौराणिक विशाल बुद्धि में शायद यह बात न आसकती थी कि किसी पुरुष विशेष की हनु कुछ टेढ़ी होने की अपेक्षा उस (हनु) के दीर्घाकार होने से उसका हनुमान् (हनुयुक्त) नाम अधिक सार्थकता से पड़सकता है वा यह भी होसकता है कि दाक्षिणात्य दीर्घमुखाकृति द्रविण वंशज होने के कारण पवनसुत का नाम हनुमान् पड़ा हो ।

आधुनिक पौरस्त्य तथा पाश्चात्य ऐतिहासिकों का प्रबल अनुमान है कि श्रीरामचन्द्र के सहायक वानरवंशी मद्रास प्रांत के वर्तमान द्राविड़ों के ही पूर्वज थे । दीर्घमुखाकारिता वा काननविहारी कपियों की सहचारिता आदि के कारण उनका नाम वानर पड़ा था । प्रसिद्ध मिश्रबन्धु पं० श्यामविहारी मिश्र M. A. M. R. A. S. तथा पं० शुकदेवविहारी मिश्र B. A. अपने "भारतवर्ष का इतिहास" प्रथम खण्ड के पृष्ठ ६३ पर कपि वा वानर शीर्षक के नीचे उनको टोडा आदिका पूर्वज बतलाते हैं । उनका लेख नीचे अविकल उद्धृत है—

"इन लोगों ने रामचन्द्र की सहायता की थी। किष्किन्धा में इनका राज्य था और वाली, सुग्रीव, हनुमान् आदि इनके नेता थे। बहुत लोगों का विचार है कि दक्षिण की वर्तमान टोड़ा जाति के लोग शरीर पर केशबाहुल्य के कारण उस काल में कपि करके पुकारे गये। रामायण में जो इनकी पूंछ आदि के वर्णन हैं वे अत्युक्तिपूर्ण एवं प्रक्षिप्त समझने चाहियें। ऋक्ष भी इसी प्रकार के लोग समझ पड़ते हैं। इनकी सभ्यता समय पर इतनी बढ़गई थी कि जाम्बवन्त नामक एक ऋक्ष की कन्या के साथ स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र ने विवाह किया था। इन लोगों को वास्तव में बंदर, भालू, भैंसा आदि समझना भारी भूल है, क्योंकि कोई रीछ रामचन्द्र का मंत्री तथा श्रीकृष्ण का ससुर नहीं होसकता था। इन लोगों की सभ्यता के जैसे वर्णन ग्रन्थों में आये हैं, उनसे प्रकट है कि ये लोग वनजन्तु न होकर अनार्य जातियों के मनुष्य थे।"

वानरों और राक्षसों के आर्यजाति से भिन्न होने के अनुमान की पुष्टि एक और घटना से भी होती है। वैदिक धर्मावलम्बी आर्य द्विजातियों में विधवाविवाह वर्जित, विगर्हित और धर्मशास्त्र विरुद्ध माना जाता है जैसा कि ऋषि दयानन्दने भी अपने सुविख्यात सत्यार्थप्रकाश के ११६ पृष्ठ पर प्रतिपादन किया है। किन्तु वानरों और राक्षसों में विधवाविवाह प्रचलित था। वानरराज बाली की विधवा, अङ्गदकी जननी तारा का विवाह सुग्रीव से और राक्षसराज लंकेश्वर रावण की विधवा अनेक पुत्रवती मन्दोदरी का विवाह विभीषण से होना प्रसिद्ध है। आर्य द्विजातियों में पुत्रवती विधवा का विवाह सर्वथा निषिद्ध है और केवल शूद्रों के लिये उसका विधान है। अक्षतयोनि नाममात्र की विधवा पाणिगृहीती कन्याओं का पुनः पाणिग्रहण इससे सर्वथा भिन्न और शास्त्रानुमोदित है।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण का अन्तः साक्ष्य भी श्री हनुमान् जी का मनुष्य होना पूर्णरूप से प्रमाणित करता है। जिस समय वानरराज बाली के भय से पलायित सुग्रीव श्री हनुमान् जी सहित ऋष्यमूक पर्वत पर रहता था और उसने दण्डकारण्य में दूर से आते हुये श्रीराम और लक्ष्मण की परीक्षा के लिए श्री हनुमान् जी को उन के पास भेजा था तब उन्होंने उन से संस्कृत (परिमार्जित) भाषा में सम्भाषण किया था। श्री रामचन्द्र जी ने उन के वचनों से प्रसन्न होकर श्री लक्ष्मण जी से कहा था —

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥ १ ॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम् ॥ २ ॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥३॥
एवंविधो यस्य दूतो न भवेत्पार्थिवस्य तु।
सिद्धयन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ ॥४॥

(वाल्मीकीय रामायण किष्किन्धाकाण्ड। सर्ग ३।
श्लोक। २८। २९। ३०। ३४॥)

अर्थात्—ऋग्वेद में जो व्युत्पन्न नहीं है, यजुर्वेद को जो धारण नहीं करता और जो सामवेद का ज्ञाता नहीं है वह इस प्रकार भाषण नहीं करसकता ॥ १ ॥ निःसन्देह इन्होंने संपूर्ण व्याकरण बारंबार (अपने गुरु से पढ़ा है) सुना है (अपने-भाषण में) बहुत से शब्दों को प्रयुक्त करके भी कोई अशुद्धि

इन्होंने न की ॥ २ ॥ इनके मुख, नेत्रों, ललाट वा भौओं तथा अन्यान्य सब अङ्गों में भी कोई दोष (कपट) न दीख पड़ा ॥ ३ ॥ इस प्रकार का दूत जिस राजा का न हो, हे लक्ष्मण उस के कार्य किस प्रकार सिद्ध होसकते हैं ॥ ४ ॥

इसके अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण में वानर वंश की राजधानी पम्पापुरी वा किष्किन्धापुरी की जो समृद्धि और वैभव वर्णित है, वह कदापि शाखामृगोचित नहीं है। क्या कभी ऐसे समृद्धराज्य के संचालक नखपुच्छधारी वानर हो सकते हैं।

फिर यह कोई अभूतपूर्व वा अश्रुतपूर्व बात नहीं है कि मनुष्यों वा राजवंशों को पशुपक्षियों के नामों की उपाधियाँ कभी पहिले न दीगई हों। अभी थोड़े दिनों की बात है कि गत रूस जापान युद्ध के अवसर पर जापानियों की क्षिप्रकारिता वा उछलकूद देखकर रूसियों ने उनका नाम पीत वानर Yellow Monkeys रखदिया था, क्योंकि जापानियों का रंग कुछ पीत होता है। बरसों तक जापानी रूस में पीत वानर कहलाते रहे। रूसियों की Russian Bear (रूसीऋक्षराज) और अंग्रेजों की British Lion (ब्रिटिशसिंह) वा John Bull जान बॉल उपाधियाँ अतिप्रसिद्ध हैं। नागवंशी क्षत्रियों का कुल इतिहास में प्रसिद्ध ही है। मुग़ल बादशाह खर्वाकार अश्वारोही मरहठों को व्यङ्ग्य से पहाड़ी चूहे कहते थे। क्या इन उपाधियों से कोई रूसियों को रीछ, अंग्रेज़ों को सिंह वा बैल, नागवंशी क्षत्रियों को सर्प तथा मरहठों को चूहा समझ सकता है ? वस्तुतः एवंविध उपाधियाँ किन्हीं जातियों के शौर्य, वीर्य तथा हस्तलाघव आदि गुणों को लक्ष्य में रखकर लक्षणा वृत्ति से दीजाती हैं और उपाधिप्रदाताओं की साहित्यरसज्ञता को सूचित करती हैं।

अब कुछ पुराने लकीर के फ़कीर अंधपरंपरा के उपासक कट्टर सनातनी नामधारियों को छोड़ कर विवेक से काम लेने वाले विज्ञजन जान गए हैं कि अञ्जनानन्दवर्धन, वानरवंशविभूषण, महावीर हनुमान् जी शस्त्र और शास्त्रविद्या के पारङ्गत पंडित पुरुषरत्न थे। उनकी अतुलबलशालिता, शूरता और महावीरता ने उनके लिए महावीरपदवी को अद्वितीयगामी बना दिया है—महावीर उनका नाम ही पड़ गया है। वे यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहकर अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श स्थापित कर गये हैं और जनता को बतला गये हैं कि अतुलबलसंचय, दुष्टदमन और विपक्षविजय के लिए वीर्यरक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के मुखारविन्द से श्रीहनुमान् जी की गुणावली आदि कवि ने इस प्रकार गाई है—

शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं, प्राज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयः॥ १॥

दृष्ट्वैव सागरं वीक्ष्य, सीदन्तीं कपिवाहिनीम्।
समाश्वास्य महाबाहुर्योजनानां शतं प्लुतः॥ २॥

धर्षयित्वा पुरीं लङ्कां, रावणान्तःपुरं तदा।
दृष्टा सम्भाविता चापि सीता ह्याश्वासिता तथा॥ ३॥

सेनाग्रगा मन्त्रिसुताः किंकरा रावणात्मजाः।
एते हनुमता तत्र एकेन विनिपातिताः॥ ४॥

भूयो बन्दिविमुक्तेन भाषयित्वा दशाननम्।
लङ्का भस्मीकृता येन पावकेनेव मेदिनी॥ ५॥

न कालस्य न शक्रस्य, न विष्णोर्वित्तपस्य च ।
कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः ॥ ६ ॥
एतस्य बाहुवीर्येण, लंका सीता च लक्ष्मणः ।
प्राप्ता मया जयश्चैव, राज्यं मित्राणि बान्धवाः॥ ७ ॥

अर्थात्—शौर्य, चातुर्य, बल, धैर्य, बुद्धि, नीतिसाधन, पराक्रम और प्रभाव ने तो हनुमान् को अपना निवासस्थान ही बना लिया है। (हनुमान् जी में ये गुण सर्वरूपेण विद्यमान थे।) जो वानरसेना समुद्र पर दृष्टिपात करके उदास हो रही थी उसको आश्वासन देकर वे महाबाहु शतयोजन विस्तीर्ण समुद्र को तैर गये। लङ्कापुरी और रावण के रनवास का धर्षण करके उन्होंने सीता से बातचीत की और उसका धीरज बंधाया। सेनापति, मन्त्रिपुत्र, सेवक और रावण के पुत्र (अक्षयकुमार) इन सब को वहाँ अकेले हनुमान् ने ही मार गिराया। फिर बन्धन से छूटकर रावण से बातचीत करके उन्होंने लङ्का को इस प्रकार भस्म कर डाला जिस प्रकार अग्नि पृथ्वी को जला देती है। हनुमान्जीने युद्ध में जो कौतुक दिखलाये वे यम, इन्द्र, विष्णु तथा कुबेर के भी नहीं सुने गये। उन्हीं के बाहुबल से मैंने सीता, लक्ष्मी, विजय, राज्य, मित्रों और बान्धवों को (पुनः) प्राप्त किया है।

श्री हनुमान् जी के इसी गुणग्राम को लक्ष्य में रखकर भारत के सारे वीर और योद्धा उनको अपने लिये वीरता का आदर्श पुरुष मानते आये हैं। इसी कारण धनुर्धराग्रणी तृतीय पाण्डव महायोद्धा अर्जुन ने हनुमान् जी की मूर्त्ति को सदैव अपने सामने रहने वाली अपनी ध्वजा पर स्थापित किया था, इस से अर्जुन का नाम कपिध्वज विख्यात है। मल्ल योद्धा और विविध शस्त्र के अभ्यासी हनुमान् जी का नामस्मरण

करके अपनी कलाओं वा करतबों का आरम्भ करते हैं। दक्षिण देश में युद्धप्रिय वीर महाराष्ट्रों में श्रीहनुमान् जी का बड़ा मान्य है, वे ही उन के मुख्य उपास्य देव हैं। महाराष्ट्र जाति के अपूर्व उन्नायक छत्रपति शिवाजी ने स्वनिर्मित दुर्गों के द्वारों पर श्रीहनुमान् जी की गदापाणि मूर्तियाँ सर्वत्र स्थापित की थीं।

श्रीहनुमान् जी सेवाधर्म के भी परमादर्श हैं, मानों वे स्वामिभक्ति के अवतार ही हैं। "सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" की असारता सिद्ध करके उन्होंने भक्ति के एक नवीन रूप दास्यभाव की संसार में अवतारणा की थी। यही कारण है कि श्रीरामचन्द्र के चित्र में उनकी अर्द्धाङ्गिनी श्रीजानकी जी के साथ उनके परमदास हनुमान् जी का चित्र भी अवश्य रहता है। आजकल अधिकारप्रियता के गगनभेदी कोलाहल काल में श्री हनुमान् जी की कर्तव्यपरायणता वा सेवाधर्म हमारे लिए बहुत कुछ शिक्षाप्रद होसकता है।

इस इन्द्रियारामता, भोगलिप्सा, कायरता और शारीरिक दुर्बलता के पतित (कलि) काल में हम भारतवासी परम जितेन्द्रिय, महातपस्वी, अतितितिक्षु, अखण्ड ब्रह्मचारी, अतुल बलधारी, महावीर हनुमान् जी के पावनचरित्र की उपासना करके अपनी त्रुटियों को हटा सकते हैं। उन के आजन्म ब्रह्मचर्य व्रतधारण के अनुकरण की इस समय राष्ट्र-सेवापरायण भारतीय युवकों को विशेष आवश्यकता है।

आजकल सर्वसाधारण में जो हनुमत्पूजा का मिथ्या विश्वासमूलक, गर्हित और अपरिमार्जित प्रकार प्रचलित है, हनुमान् जी की कपोलकल्पित, अनघड़, पत्थर की शाखामृगाकार मूर्त्तियों पर सिंदूर, तेल आदि चढ़ाया जाता है और

उनकी तुष्टि के लिए महाउपद्रवी बन्दरों को रोट और चने खिलाए जाते हैं. उस के स्थान में आर्यपुरुषों को वीरपूजा-मूलक, सद्गुणग्राहक, सदुपदेशदायक, हनुमत्पूजा का प्रचार करना चाहिए। श्रीहनुमान् जी के नाम पर व्यायामशालाओं और व्यायाममंडलियों की यत्र तत्र स्थापना होनी चाहिए। उनकी शुभजन्मतिथि हनुमज्जयन्ती के दिन श्रद्धापूर्वक उनका गुणानुवाद और गुणसंकीर्त्तन होना चाहिए। इसी दिन शौर्य प्रदर्शक तथा बलविक्रम वर्धक मल्लयुद्ध कौशल आदि क्रीडाओं का अखाडों में प्रदर्शन होना चाहिये, जिससे नवयुवकों में वीरकलाओं की उन्नति के उत्साह की वृद्धि हो।

उन के गुणगान के कुछ पद्य राष्ट्रीय कवि पं० रामचरित्र उपाध्याय की रुचिररचना रामचरितचन्द्रिका से वाचक वृन्द के मनोरञ्जनार्थ और शिक्षाप्रदानार्थ नीचे उद्धृत हैं।

महावीर हनुमान्।

यद्यपि सचिव कपीश्वर के तुम थे—यह बात सही है;
किन्तु 'कपीश्वर' कपे! तुम्हें भी कहता कौन नहीं है।
कभी सुकंठ आपकी समता कैसे पा सकता है?
हीरा का गुण कभी काँच में कैसे आ सकता है? ॥ १ ॥
हनुमन्! कैसा प्रेम-भरोसा तुमको था रघुवर का,
यथा कमल को छोड़ कहीं मन रमता नहीं भ्रमर का।
उसी भाँति वात्सल्य-दयादिक तुम पर उनका भी था;
स्वामी सेवक के नाते में न्यून नहीं कुछ भी था ॥ २ ॥
राजनीति में तुमसे हनुमन्! लंकेश्वर भी हारा;
कालनेमि आदिक क्रूरों को तुमने लड़कर मारा।
तुम्हें कठिन से कठिन कार्य भी सहज जान पड़ता था;
वैसा करते थे जब जैसा समय आन पड़ता था ॥ ३ ॥

भाई से हो भीत कपीश्वर छिपा रहा जब वन में;
निज जीवन की कुछ भी आशा रही न उसके मनमें।
तब हनुमन्! रघुवर से उसको तुमने तुरत मिलाया;
वैरी-हीन कराया उसको, गया राज दिलवाया ॥ ४ ॥
राम खोजते थे सीता को बन में जब अकुला के,
वहीं मिले तुम उनसे आकर, द्विज का रूप बना के।
अभिज्ञान भी सीता का कपि! तुमने उन्हें दिया था;
थे हताश वे पर आशान्वित तुमने उन्हें किया था ॥ ५ ॥
लक्ष्मण को जब लगी शक्ति तब तुम्हीं वैद्य को लाये;
औषधि को भी लाकर तुमने उनके प्राण बचाये।
हनुमन्! जो होते न वहाँ तुम जीते लक्ष्मण कैसे?
प्रण के साथ राम भी रिपु से कर लेते रण कैसे? ॥ ६ ॥
आशामृत के मूल, निराशा-विष के नाशक तुम हो;
राम-भक्त के भाई हनुमन्! खल के शासक तुम हो।
तनिक तुम्हारी कभी राम को भूली नहीं भलाई;
धन्य भरत से स्वयं उन्होंने की है बहुत बड़ाई ॥ ७ ॥
भेद-नीति के सहित विभीषण को भी खूब मिलाया;
रामचरण पर उसे गिरा कर लंका-राज्य दिलाया।
क्या ऐसी ही कार्य-कुशलता हो सकती वानर में?
इसीलिये तुम पूज्य हुए हो हनुमन्! वसुधाभर में ॥ ८ ॥
बन्धन पाकर धन्य! राम के लिये हँसे तुम रण में;
रावण-गर्व नष्ट कर तुमने नगर जलाया क्षण में।
फिर सीता से मिलकर सागर के उत्तर-तट आये;
वीर-शिरोमणि! कपि ऋक्षों से बहुविध मिले मिलाये ॥ ९ ॥
राम-सँदेशा लेकर निर्भय चले गये लंका में;
तुम्हें देखकर भीता सीता हुई मग्न शंका में।

तो भी मधुर वृत्त रघुवर का तुमने उन्हें सुनाया;
और मुद्रिका देकर उनके भ्रम को दूर हटाया ॥१०॥
अब्धि-निकट में बैठ भालु-कपि चिन्ता-मग्न हुए थे;
वारिधि को तरने में वे सब आशा-मग्न हुए थे।
उसी समय होगये खड़े तुम हनुमन्! कटि कस करके;
विगत-शोक कर उन्हें, चले तुम लंका को हँस करके ॥११॥
रामाऽऽगमन भरत से तुमने कहा दौड़ कर आगे;
सुन कर उसे भरत के मन से शोक दुःख सब भागे।
सुन प्रिय वचन तुम्हारे मुख से उनके दृग भर आये;
तुम को कंठ लगा कर हनुमन्! राम-मिलन सुख पाये ॥१२॥
यों ही जब जब राम भरत आदिक को हुई निराशा;
हनुमन्! तब तब तुमने उनका संग दिया है ख़ासा।
स्वामि-भक्त या मित्र-सहायक कौन तुम्हारे सम हैं?
और तुम्हारे तुल्य वायुसुत! किसमें शम है दम है? ॥१३॥
सीता का चूड़ामणि लाकर दिया राम को तुमने;
जिसे रामने कहा; किया कपि! उसी काम को तुमने।
कोई कार्य कभी स्वामी का किया न कच्चा तुमने,
स्वामि-भक्ति का पाठ पढ़ाया सबको सच्चा तुमने ॥१४॥
रघुवर के सुग्रीव विभीषण यद्यपि दास सही थे,
किन्तु तुम्हारे से वे हनुमन्! स्वार्थ-विहीन नहीं थे।
एक राम थे इष्ट तुम्हारे, जीवन-धन-सुख-दाता;
उन्हें छोड़ कर और किसी से न था तुम्हारा नाता ॥१५॥

—०—

श्रीसूरदास-जयन्ती।

वैशाखसुदी चतुर्थी।

ब्रजभाषा कविमंडल मंडन सूर महाकवि,
कृष्ण-प्रेम परकास करन कैधों दूजो रवि।
उपमा रूपक व्यंग्य लक्ष्य ध्वनि कोविद नागर,
जगत् उजागर रच्यो सवालछ पदको सागर॥

(कवि रामनरेश त्रिपाठी)

भव्य भारतीय सभ्यता और भारत की देशव्यापिनी भाषा हिन्दी के साहित्य में श्रीसूरदास का समुज्ज्वल यश यावच्चन्द्रदिवाकर संसार में प्रसारित रहेगा, जबतक संसार में हमारी हिन्दी विद्यमान है और जब तक कविप्रतिभा, शब्दार्थ की रमणीयता और भणितिभङ्गी का सहृदयों के हृदयों में आदर है, तब तक श्रीसूरदास सम्मान, प्रशंसा, श्रद्धा और भक्ति के भाजन रहेंगे।

महापुरुष अपने समय के प्रतिरूप, प्रतिबिम्ब और प्रतिनिधि होते हैं। श्री सूरदास भी अपने समय के उस भक्तिमार्ग की जीती जागती मूर्ति थे, जिस को विक्रम की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में धर्म का ह्रास होने पर कबीर, नानक, चैतन्य, मीराबाई, तुकाराम, रामदास और तुलसीदास ने परिष्कृत और परिचालित किया था, और वैष्णवभक्त कवियों ने उस को एक नवीन ही रूप देदिया था। भक्ति का लक्षण "पूज्येष्वनुरागः भक्तिः" है, अर्थात् पूज्यों में अनुराग को भक्ति कहतेहैं। सब से पूज्यतम परमात्मा में प्रेम या अनुराग का अतिरेक ही

भक्ति की पराकाष्ठा है। उसके प्रेम में तल्लीनता और आत्मसमर्पण ही भक्ति का स्वरूप है। भक्त विश्वास रखता है कि परमात्मा मेरी तुच्छ भक्ति को स्वीकार कररहे हैं। वह मङ्गल मूल महेशकी प्रत्यक मङ्गलकामना में संतुष्टिका अनुभव करता है। वह सतोष के साथ कहता है—

"आपकी जिस में हो मरज़ी, वह मुसीबत अच्छी।
आपकी जिस में खुशी हो, वो मलाल अच्छा है॥"

भावात्मक भक्ति के अतिरिक्त उसकी दृष्टि में कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड सब कुछ व्यर्थ वा तुच्छ है।

भक्ति का मार्ग नवीन नहीं है। वेद भगवान् की अनेक ऋचाओं में भक्ति की महिमा गाई गई है। सर्व उपनिषदों की सारभूता श्रीमद्भगवद्गीता में भी योगिराज कृष्ण नेअर्जुन को भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता समझाई है और सब कर्मों को अपने भजनीय परमात्मा को समर्पण करने का उपदेश दिया है। बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय में भी भक्ति की महिमा पर बड़ा बल दिया गया है। जैनधर्म में भी जैनतीर्थङ्करों की भक्ति का विशेष विधान है। पुराण भी भक्तिभाव से शून्य नहीं हैं मुसल्मानी मत का सूफ़ी संप्रदाय भी भक्तिमार्ग का रूपान्तर मात्र है।

श्रीरामानुजाचार्य ने वेदान्तदर्शन पर श्रीभाष्य रच कर उसकी भक्तिमार्गपरक व्याख्या की है। उनकी शिष्यपरम्परा में रामानन्द का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने दक्षिण से आकर उत्तर भारत में भक्तिमार्ग का पूर्ण प्रचार किया। भक्ति की महिमा गाते हुए वे कहते हैं कि भक्ति से नीचातिनीच मनुष्य भी परमपद पासकता है। रामानन्द के शिष्य कबीर हुए।

उन्होंने भक्ति के प्रवाह को और भी अधिक वेग से बहाया और हिन्दी में अपनी पद्यरचना करके अपने समकालीन और आगामी सुधारकों तथा भक्त कवियों पर विशेष प्रभाव डाला। कबीर निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का ही उपदेश देते थे। वे अवतारवाद, मूर्त्तिपूजा और मतमतान्तर के पक्षपात का खण्डन करते थे। कबीर के गुरु-भाई रामानन्द के अन्य शिष्य रैदास चमार, सेनभगत नाई और धन्ना खटीक ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। नानक के भजनों में भी वही एकेश्वरवाद भक्ति, और नामस्मरण की ही महिमा वर्णित है। तीर्थ, व्रत, मूर्तिपूजा और पुरोहिताई का वही खण्डन है, जो कबीर की वाणी में सुन पड़ता है। दादूदयाल का भी यही हाल है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी इसी क्रम से बहती रही। एक निराकार परमेश्वर की भक्ति, गुरु की भक्ति तथा सदाचार की कलकल-ध्वनि कर्णकुहुर को तृप्त करती रही।

परन्तु सोलहवीं शताब्दी में भक्तिमार्ग का यह प्रवाह दूसरी ओर को चलपड़ा। निराकार ब्रह्म की भक्ति जनता के भावुक हृदयों को संतोष न देसकी। दुर्बल मनुष्यों का चञ्चल मन निराकार निरञ्जन पर स्थिर न रहसका। "इतिहास अपने आप को दोहराता है" (History repeats itself) यह प्रसिद्ध कहावत है इस के अनुसार संसार में मनुष्य के हृदयदौर्बल्य और मनश्चाञ्चल्य ने आदि में विशुद्ध निराकार-वादी वैदिक तथा एक प्रकार से निरीश्वरवादी बौद्ध जैन आदि संप्रदायों में भी आगे चल कर साकार उपास्यदेव को ला बिठलाया है। मुसलमानों के 'वहद उल्ला शरीक' का

मकाँ को भी चौथे आसमान पर तख्त-ए-जमरु‍र्दी पर आसीन करदिया है। फिर भावुकता के मूलाधारपर संस्थित भक्तिमार्ग उससे कैसे बचसकता था। मानवीय हृदय का प्रेम प्रवाह उसको निराकार से हटाकर साकार की ओर ले चला। निराकार निर्गुण परब्रह्म के स्थान में सगुण और साकार परमेश्वरकी भक्ति प्रचलित हुई। समस्त देशमें साकार भक्तिका स्रोत बड़े वेगसे फूट पड़ा। वैष्णवभक्त कवियों ने भारत भर को उससे आप्लावित करदिया। भारतीय जीवनपर वैष्णव साहित्य का बड़ाप्रभाव पड़ा, जो अबतक विद्यमान है। भक्ति के ५ प्रकार-१ शान्त, २ दास्य, ३ वात्सल्य, ४ सख्य और ५ शृङ्गार माने जाने लगे। कवीश्वर तथा भक्तशिरोमणि सूरदास के आविर्भाव का गौरव इसी समय को प्राप्त है।

श्री सूरदास का जन्म संवत् १५४० विक्रमीय तथा स्वर्गारोहण संवत् १६२० विक्रमीय में कहा जाता है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके माता पिता दरिद्र थे और दिल्ली के पास "सीही" ग्राम में रहते थे। वहीं सूरदास का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम रामदास था। सूरदास ५ या ६ भाई थे। सूरदास के अतिरिक्त और सब भ्राता मुसलमानों के हाथ से वीरगति को प्राप्त होगए थे। भक्तमाल में लिखा है कि सूरदास जन्म के अन्धे थे, परन्तु उनकी कविताओं में नाना रंगों ज्योति और अनेक प्रकार के हाव भावों का ऐसा यथार्थ वर्णन है जो केवल सुनकर अनुभव नहीं किया जासकता। किंवदन्ती है कि पहिले वे अन्धे न थे। एक बार एक युवती को देखकर उस पर मोहित होगए और अपने नेत्रों का अपराध समझ कर उन्होंने अपने दोनों नेत्रों को दो सुइयों से फोड़ डाला। सूरदास की कृति में ३ ग्रन्थ हैं।

(१) सूरसागर (२) सूरसारावली (३) साहित्य लहरी वा दृष्टिकूट। सूरसागर सब से बड़ा है, वह १२ स्कन्धों में सवा-लाख पद्यों से परिपूर्ण है. इस में श्रीमद्भागवत के आधार पर कथाओं का बड़ा ही मनोहर वर्णन भजनों में किया गया है।

उनकी कविता में कला और शक्ति का विलक्षण सम्मिश्रण है, वे व्रजभाषा साहित्य के सूर्य माने गए हैं। "सूर सूर तुलसी ससि" की कहावत सब का जिह्वा पर है। इसमें सन्देह नहीं कि उनका कवित्वालोक अनन्त विश्व को सूय के समान आलोकित कररहा है। उनके काव्य का प्रकाश श्रीमानों के प्रासादों और रङ्कों के कुटीरों में समान रूप से पड़ रहा है।

श्रीतुलसीदास में दास्य भाव है, परन्तु सूरदास वात्सल्य, सख्य और शृंगार भाव से परिपूर्ण हैं। साकारवाद और अवतारवादका कुछ समवाय सम्बन्धसा है। पन्द्रहवीं शताब्दी का भक्तिमार्ग एक निराकार ईश्वर के अतिरिक्त और किसी को न मानता था, परन्तु सोलहवीं शताब्दी में वह एक साकार परमेश्वर को प्रधान मान कर उसके अनेक अवतारों की भी भक्ति करने लगा था। परमेश्वर के दश अवतारों में से मुख्य राम और कृष्ण भक्तिमार्गी कवियों के आराध्य देव बनगये थे। रामभक्ति तुलसीदास का और कृष्णभक्त सूरदास का विषय है। कृष्ण अवतार की भक्ति उसमें तल्लानता, आत्मविस्मृति, विरक्ति, कृष्णविरह में व्याकुलता, अन्य देवों और साधनों की गौणता, गुरुमहिमा और सत्संगमहिमा सूरदास के यही सिद्धान्त हैं।

परन्तु सूरदास मुख्यतः सिद्धान्ती धर्मसंस्थापक, धर्मोपदेशक वा सुधारक नहीं हैं और न इन दृष्टियों से हमको उन

की समालोचना करनी चाहिए। वे प्रधानतः महाकवि, सुभक्त, और सुगायक हैं। श्रीमद्भागवत के कथानक के आधार पर इन्होंने सर्वथा स्वतंत्र मौलिक रीति पर एक उत्तम महाकाव्य की रचना की है। कविता तथा भक्ति का मूलस्रोत भावुकता, तल्लीनता और प्रतिभा हैं। कवि बनते नहीं उत्पन्न होते हैं (Poets are born, not made)। प्रकृति ने जिसे भावुकता और प्रतिभा दी है, वही कवि है। भावों से और प्रेमरस जब उसका हृदय भरकर छलकने लगता है, तब वह कविता के रूप में स्वयं प्रकट होजाता है। उपमा, अलङ्कार, पदलालित्य और छन्दों के विचार की उसको आवश्यकता नहीं पड़ती ऐसे विचार तो कविता को कृत्रिम बनादेते हैं। जो सच्चे कवि हैं उनकी कविता स्वयमेव अलङ्कारों से जगमगाने लगती है। जो कवि नहीं हैं उनकी रचना अलङ्कारों से लदी हुई होने पर भी कविता नहीं कहलासकती। स्वाभाविक कविता में स्वाभाविक प्रवाह होता है। प्रसाद और माधुर्य उस की विशेषता हैं। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास स्वाभाविक कवि थे, अतएव उनकी कविता का सुन्दर प्रवाह उमड़ उमड़ कर बहता है। हिन्दी में सूर और तुलसी स्वाभाविक कविता के सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हैं। सूरदास की कविता में कृष्ण की बाललीला तथा गोचारणलीला आदि प्रसंग अति मनोहर हैं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन सूरदास ने हिन्दी में सब से अच्छा और सविस्तर किया है। उनका गोपियों और कृष्ण का प्रेमवर्णन सदाचारकी सीमा का उल्लङ्घन करगया है। सदाचार भक्तिमार्ग का प्रधान अङ्ग है। उसकी उपेक्षा का प्रभाव कवियों और पाठकों पर कभी अच्छा नहीं पड़सकता।*

---

*साहित्यसम्राट् श्री पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय हरिऔध ने सूरसागर के विषय में कैसा ललित लिखा है—

कई स्थानों पर सूरदास की कविता में अश्लीलता आ गई है तथापि उनकी भक्ति का आवेश उनके अवगुण को ढक देता है। सूरदास की भक्तिमयी शाङ्गारिक कविता और विहारी, मतिराम और पद्माकर आदि एकमात्र कवियों की कविता में एक विशेष अन्तर है। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि भक्त कवियों ने सांसारिक वैभव को परित्याग कर ऐहिक वासनाओं को दमन करने की चेष्टा की है। यही उनका प्रधान लक्ष्य रहा है। विहारी, पद्माकार आदि शृङ्गाररस के दीक्षागुरुओं के विषय में यह बात नहीं कही जासकती। क्या उन्होंने भक्ति के आवेग में आकर सांसारिक वैभव की कामना कभी छोड़ी है? शृङ्गार रस के वर्णन में तो उन्होंने अपनी कृष्णभक्ति की पराकाष्ठा दिखलाई है, परन्तु क्या उन्होंने कभी अपने जीवन में भी भक्ति भाव प्रदर्शित किया था? उन के नखशिख वर्णन में अध्यात्म-वाद अथवा भक्तिवाद दुर्लभ है। कविवर विहारीलाल पद्माकर, मतिराम राजसभा के रत्न थे। उन की प्रतिभा राजसभा की शोभा थी। वे विश्वकवि नहीं कहलासकते। उन की कृति विद्वानों की विभूषा हो सकती है पर वह सर्वसाधारण की

सूरसागर के बालचरित वर्णन की चारुता अवर्णनीय है, वात्सल्य-रस उसमें छलकता मिलता है। कहीं कहीं शान्तरस की उच्छ्वासमयी पावन धारा प्रखर गति से प्रवाहित है, वीर रस का भी अभाव नहीं है, अन्य रस भी यथास्थान बड़ी निपुणता के साथ अंकित हैं, किन्तु शृंगार रस ही उसका प्रधान वर्णनीय विषय है। समस्त ग्रन्थ शृंगार रस से प्लावित है। इस प्लावन का प्रेमप्रवाह बड़ा ही मनोहर है, किन्तु उसमें शृंगार रस के अभव्य और अमनोरम आवर्त्त भी विद्यमान

सम्पत्ति नहीं है। वह विलास की सामग्री है, पूजा का पात्र नहीं है। उस से मस्तिष्क में उत्तेजना उत्पन्न होसकती है, पर हृदय में शान्ति नहीं विराजसकती। उन के भावों में तल्लीन होकर रसिक आत्मविस्मृत होसकते हैं पर उन में जागृति नहीं आसकती।

हम को नीरक्षीरग्राही और विवेकी बनकर श्रीसूरदास के महाकाव्यवारिधि में से ग्राह्य और शिक्षाप्रद अंश को ग्रहण करते रहना चाहिए और उनको अपनी मातृभाषा हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय महाकवि के रूप में मान्य और आदर देना उचित है। वे काव्यवीर के रूप से हमारी पूजा के पात्र हैं। सूरदास की कविता के कुछ उत्तम नमूने नीचे उद्धृत किए जाते हैं जो संकीर्तन के लिए भी उपयोगी होसकते हैं—

बिलावल

चरन कमल बन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोले रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौं तेहि पाई॥

कान्हरा

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बाँनी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन लीलापद गावै॥
चकईरी, चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।

जहँ भ्रम निसा होत नहिं कबहूं, वह सागर सुखजोग ॥
जहाँ सनक से मीन हंस सिव, मुनिजन नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर, गुञ्जत निगम सुबास ॥
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँडि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहां रहि कीजै ॥
लछमी सहित होत नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय रस छीलर, वा समुद्र की आस ॥

मना रे, तू करि माधव सों प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू, छाँडि सबै बिपरीत ॥
भौंरा भोगी बन भ्रमै, मोद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, भ्रमर बंधावै आप ॥
सदा सँघाती आपनो, जिय को जीवन प्रान।
सो तू बिसर्यो सहज ही, हरि ईश्वर भगवान ॥
प्रभु पूरन पावन सखा, प्रानन हूं को नाथ।
परम दयालु कृपालु प्रभु, जीवन जाके हाथ ॥
सजन कुटुम परिजन बढ़े, सुत दारा धन धाम।
महामूढ विषयी भयो, चित आकर्ष्यो काम ॥
कहँ जानो (यो) कहँवा मुवो, ऐसे कुमति कुमीच।
हरिसों हेतु बिचारि कै, सुख चाहत है नीच ॥
जो पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहौं सौ बार।
एकहु अंक न हरि भजे, रे सठ सूर गँवार ॥

कहते हैं कि यह पद्य श्रीसूरदास जी ने मुग़लसम्राट् दिल्लीश्वर अकबर को गाकर सुनाया था।

सारंग

गोविंद प्रीति सबन की मानत।
जेहिं जेहिं भाव करी जिन सेवा अन्तर्गत ही जानत ॥

शवरी कटुक बेर तजि मीठे चाखि गोद भर लाई।
जूठे की कछु शंक न मानी भच्छ किए सत भाई॥
सन्तनभक्त मित्र हितकारी श्याम विदुर के आए।
अतिरस बाढ़ो प्रीति निरन्तर साग मनन ह्वै खाए॥
कौरव काज चले ऋषि शापन साग पत्रही अघाये।
सूरदास करुनानिधान प्रभु युग युग भक्त बढ़ाये॥

केदारा

विनती सुनो दीन की चितदै कैसे तव गुण गावै।
माया नटिनि लकुट कर लीने कोटिक नाच नचावै॥
दर दर लोभ लागि लदै डोलनि नाना स्वांग करावै।
तुमसों कपट करावति प्रभुजू मेरी बुद्धि भ्रमावै॥
मन अभिलाष तरंगनि करि करि मिथ्या निसा जगावै।
सोवत सपने में ज्यों संपति त्यों दिखाय बौरावै॥
महामोहिनी मोह आत्मा मन करि अघहि लगावै।
ज्यों दूती पर बधुहिं भोरि कै लै परपुरुष दिखावै॥
मेरे तो तुम ही पति तुम गति तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै॥

राग धनाश्री

कितक दिन हरि सुमिरन बिन खोये।

परनिन्दा रसना के रसमें अपने पर तर बोये॥
तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन वस्त्रहिं मलि मलि धोये।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै विषयनि के मुख जोये॥
काल बली ते सब जग कंपत ब्रह्मादिक हूं रोये।
सूर अधम की कहौं कौन गति उदर भरे परि सोये॥

केदारा

माधव जू नेकु हटको गाइ *

निसि वासर यह भ्रमति इत उत अगह गही नहिं जाइ ॥
छुधित बहुत अघात नाहीं निगम द्रुम दल खाइ ।
अष्टदश घट नीर अंचवै तृषा तऊ न बुझाइ ॥
छहूँ रसहूँ धरत आगे बहै गंध सुहाइ ।
और अहित अभच्छ भच्छति गिरा वरनि न जाइ ॥
व्योम धर नद शैल कानन इते चर न अघाइ ।
ढीठ निठुर न डरति काहू त्रिगुण ह्वै समुदाइ ॥
हरै न खल बल दनुज मानव सुरनि शीश चढ़ाइ ।
रुचि विरचि मुख भौंह छबीले चलति चितहिं चुराइ ॥
नील खुर जाके अरुन लोचन स्वेत सींग सुहाइ ।
दिन चतुर्दश खेत खूँदति सु यह कहा समाइ ॥
नारदादि शुकादि मुनिजन थके करत उपाइ ।
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सकत सूर चुराई ॥

विहाग

हृदय की कबहुं न जरनि घटी ।

बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसे जात कटी ।
अपनी रुचि जितही तित खैंचति इन्द्रिय ग्राम गटी ॥
होति तहीं उठि चलति कपट लगि बाँधे नयन पटी ।
झूठो मन झूठी यह काया झूठी आरभटी ॥
अरु झूठनि के वदन निहारत मारत फिरत लटी ।
दिन दिन हीन छीन भई काया दुख जंजाल जटी ॥
चिंता गइ अरु भूख भुलानी नींद फिरत उचटी ।

---

* गाइ = गो, इन्द्रिय ।

मगन भयो माया रस लम्पट समझत नाहिं हटी ॥
तापर मूँड़ चढ़ी नाचति है मीचति नीच नटी ।
खैंचत स्वाद स्वान पातर ज्यों चातक रटत ढटी ॥
सूर जलधि सिंचै करुनानिधि निज जन जरनि मिटी ।

केदारा

अब कै नाथ मोहिं उधारि ।

मगन हौ भव अंबुनिधि में कृपासिन्धु मुरारि ।
नीर अतिगंभीर माया लोभ लहराति रंग ॥
लये जाति अगाध जल में गहे ग्राह अनंग ।
मीन इन्द्रिहिं अतिहिं काटति मोह अघसिर भार ॥
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सिवार ।
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर ॥
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर ।
थक्यो बीच बिहाल विह्वल सुनो करुनामूल ।
श्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज के कूल ॥

सारंग

माधव जू मन हठ कठिन पर्यो ॥
यद्यपि विद्यमान सब निरखत दुःख शरीर भर्यो ॥
बारम्बार निसिदिन अति आतुर फिरत दसोंदिसि धाये।
ज्यों सुक सेंबर फूल विलोकत जात नहीं बिन खाये ॥
जुगजुग जन्म मरन अरु बिछुरन सब समुझत मतिभेव;
ज्यों दिनकर उलूक नहिं मानत परी आनि यह टेव ॥
हौं कुचील मतिहीन सकल विधि तुम कृपालु जगजान।
सूर मधुप निशि कमल कोष वश करो कृपा दिनभान ॥

कान्हरा

तुमरी कृपा कृपालु गुसाईं मैं अपने अज्ञान न जानत।
उपजत दोष नयन नहिं सूझत रवि की किरन उलूक न मानत॥
अब सुखनिधि हरि नाम महातम पायो है नाहिन पहचानत।
परम कुबुद्धि तुच्छ रसलोभी कौड़ी बदले मगरज छानत॥
शिवको धन संतन को सरबस महिमा वेद पुरान बखानत।
इते मान यह सूर महाशठ हरि नग बदलि महाखल आनत॥

कान्हरा

दीनानाथ अब बार तुम्हारी।
पतित उधारन विरद जानिकै बिगरी लेहु सँभारी॥
बालापन खेलत ही खोयो युवा विषय रस माते।
वृद्ध भये सुधि प्रकटी मोको दुखित पुकारत ताते॥
सुतनि तजो त्रिय तजो भ्रात तजि तन त्वच भई जुन्यारी।
श्रवन न सुनत चरन गति थाकी नयन भये जलधारी॥
पलित केश कफ कंठ विरोध्यो कल न परी दिन राती।
माया मोह न छांडै तृष्णा ये दोऊ दुख दाती॥
अब या व्यथा दूर करिबे को और न समरथ कोई।
सूरदास प्रभु करुनासागर तुम ते होइ सु होई॥

मारू

मेरी तो गति पति तुम अनतहि दुख पाऊँ।
हौं कहाइ तिहारो अब कौन को कहाऊँ॥
कामधेनु छाँड़ि कहा अजा जा दुहाऊँ।
हय गयंद उतरि कहा गर्दभ चढ़ि जाऊँ॥
कञ्चन मणि खोलि डारि काँच गर बँधाऊँ।
कुंकुम को तिलक मेटि काजर मुख लाऊँ॥

पाटम्बर अम्बर तजि गूदर पहिराऊँ।
अम्ब को फल छाँड़ि कहा सेवर को ध्याऊँ॥
सागर की लहरि छाँड़ि खार कत अन्हाऊँ।
सूर कूर आंधरो मैं द्वार पर्‌यो गाऊँ॥

देवगांधार

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै॥
कमल को छाँड़ि महातम और देव को धावै।
परमगंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अम्बुजरस चाख्यो क्यों करीलफल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

श्रीसूरदासजी की प्रशंसा में भी एक पद्यावली दीजाती है-

भैरवी

सूर को अन्धा कौन कहे?
करे लोक को जो आलोकित अन्धा वही रहे! ॥१॥
क्या प्रभु ने प्रत्यक्ष दिखाया दीप तले तमरूप?
नहीं, घोर तम में दिखलाया दीपक दिव्य अनूप॥ २॥
दिये बाहिरी चकाचौंध से सबके नेत्र बिगाड़,
अन्तर्दृष्टि किन्तु दी तुमको-सभी हटाई आड़॥ ३॥
नेत्ररहित हो उस अथाह की पाई तुमने थाह,
नेत्रसहित हम थके भटकते नहीं सूझती राह॥ ४॥
गही कृष्ण ने बाँह तुम्हारी हुई न अड़चन नेक,
तुम्हें कृष्ण ही थी सब दुनिया-थे तुम दोनों एक॥ ५॥
जिस अदृश्य ने अन्धकूप से खींच किया दुख दूर,
क़ैद उसी को किया हृदय में, हो तुम सचमुच सूर! ॥६॥

कहीं न देखा सुना गया था सूरश्याम का साथ,
लेकिन तुमने कर दिखलाया वह भी हाथों हाथ ॥ ७ ॥
अलङ्कार-ध्वनि-रस-मय निकली हृदय-वेणु से तान,
वही हमारे लिए बनगई मधुर अलौकिक गान ॥ ८ ॥
जिस सद्भक्ति-तत्त्व को उसने फैलाया सब ठौर,
उसे भूलकर हन्त ! हुए हम आज और के और ॥ ९ ॥

बदरीनाथ भट्ट ।

श्रीसूरजयन्ती की पर्वपद्धति के गृह्य तथा सामाजिक कृत्य अन्य महापुरुषों की जयन्तियों के ही समान हैं ।

—०-

श्रीशिवराज-जयन्ती
वा
श्रीशिवाजी-जन्मोत्सव ।

वैशाख सुदि अक्षय तृतीया ।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना ॥
यजु० अ० २० । मं० २५ ॥

यजुर्वेद की उपर्युक्त श्रुति में इस सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कियागया है कि जहाँ ब्रह्म और क्षात्र तेज का साथ साथ समान विकास होता है, वहीं पुण्य लोक है, वहीं पवित्रता वास करती है । सब प्रकारकी पूर्ण पवित्रता से ही किसी राष्ट्र का पूर्ण अभ्युदय होता है । इस सनातन सिद्धान्तानुसार जहाँ ब्रह्मबल के कोप ब्रह्मर्षि महर्षि मुनि आदि धर्मसंस्थापक और धर्मोपदेष्टा आचार्य समय समय पर धर्मसंस्थापनार्थ संसार को अपने प्रादुर्भाव से पवित्र करते हैं, वहाँ क्षात्र-तेज के पुञ्ज राजर्षि और राजन्यवर्ग भी धर्मरक्षार्थ अपने आविर्भाव से वसुन्धरा को कृतकृत्य करते आये हैं । भव्य भारत भूमि उभयप्रकार के लोकमर्यादाव्यवस्थापकों के लोककल्याणकर कर्मकलाप से सैकड़ों वार धन्य होचुकी है । जहाँ वशिष्ठ, वाल्मीकि, व्यासप्रभृति ऋषिश्रेष्ठ उसकी श्रीवृद्धि कर चुके हैं, वहाँ मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और कर्मयोगि-

राज श्रीकृष्णचन्द्र आदि दूसरी श्रेणी के राजर्षिगण भी भारतवर्ष का गौरव बढ़ा गए हैं, परन्तु उन्होंने आजकल के रूढ़ि ऐतिहासिक कालसे पूर्व त्रेता और द्वापरयुग में प्रादुर्भूत होकर धर्मराज्य की स्थापना को थी, वर्तमान कलिकाल में उनकी उपमा की प्राप्ति असम्भव है। हाँ, इस घोर कलियुगके वर्तमान ऐतिहासिक काल में भी एक ऐसे वीरशिरोमणि नृपशार्दूल ने जन्म लेकर भारतमाता का संकटमोचन और आर्यधर्म की रक्षा ऐसे दारुण विपत्तिकाल में की थी, कि जब आर्यसन्तान परपददलित और दास्य शृङ्खला में बद्ध होचुकी थी कि उसके नामग्रहण से वैदिक धर्मावलम्बिमात्र अपनी रसना को पवित्र और अपने मस्तक को ऊँचा कर सकते हैं। उसने भारत की चारों दिशाओं में विधर्मी मोहम्मदी शासन स्थापित होजाने पर भी आर्यराज्य की स्थापना करके भारत माता का मुख उज्ज्वल किया था। आज उसी धर्मधुरीण वीराग्रणी के पवित्र चरित्र के कीर्तनका सुप्रसंग उपस्थित है। आज हम जिस आर्यधर्मरक्षक गोब्राह्मणपालक नृपमुकुटमणि की जयन्ती वा जन्मोत्सव मना रहे हैं उसका लोककल्याणकारक नाम शिवराज वा शिवाजी विख्यात था। दक्षिणापथ की वीर प्रसविनी महाराष्ट्रभूमि उसको जन्म देकर यशस्विनी हुई थी। महाराज शिवाजी, रघु, दिलीप, राम प्रताप आदि धर्मराज्य संस्थापक राजर्षियों को जन्म देनेवाले सर्वश्रेष्ठ सूर्यवंशके कुलांकुर थे। जिस समय मुगलकुलाङ्गार औरङ्गजेब और उसके अनुयायियों की कराल कृपाण वेदकोष के रक्षक विप्रवरों और भारतसन्तान की अवलम्ब गोमाताके रक्त से नित्यप्रति तृप्ति लाभ कररही थी, उसी समय महाराज शिवाजी ने मरहठा सामन्त शाहजीराज की धर्मपत्नी जीजा-

बाई की कोख से विक्रमीय सं० १६८४ के वैशाख मास की अक्षय तृतीया को अत्याचारियों के अन्तक परशुराम जी की जयन्ती के पुण्य दिन जन्म लेकर दीना हीना भारतमाता के दुःखमोचन की शुभ सूचना दी थी। श्रीशिवाजी की माता वीर क्षत्राणियों के समान तेजस्वी स्वभावसे युक्त थी। शिवाजी के पितामह मालोजी राव और उनके पिताके श्वशुर यवनराज्य निज़ामशाही के सेवक यादवराव में चिरकाल से अनबन चली आती थी। जब शिवाजी अपनी माता के गर्भ में ही थे, तब उनके पिता शाह जी अपने श्वशुर यादवराव की सेना का व्यूह भेदन करके भाग आए थे। उनके साथ उनकी गर्भवती पत्नी जीजाबाई भी घोड़े पर चढ़कर उनकी सहगामिनी बनी थी, किन्तु गर्भभार के कारण घोड़े की पीठ पर भागने में असमर्थ रहने के कारण उसके पिता यादवराव ने उसको बीच में ही आपकड़ा था और उसको अपने घर लेजाना चाहा था। परन्तु उस पतिव्रता वीरपत्नी ने पिता की भर्त्सना करके अपने पति के उस विद्वेषी के घर जाना स्वीकार नहीं किया और विवश होकर यादवरावको अपनी पुत्रीको अपने जामाता केशिवनेरीदुर्ग में निवास के लिये भेज देना पड़ा था। इसी दुर्ग में शिवाजी का जन्म हुआ था; और यहीं अपनी माता की गोद में पलकर उसने उसके स्तनपान के साथ उसकी तेजस्विता को भी ग्रहण किया था। साध्वी माता जीजाबाई प्रतिदिन रामायण और महाभारत की कथा सुना करती थी। इस से बालक शिवाजी के हृदय में भी बाल्यावस्था से ही धार्मिक संस्कार बद्धमूल होगये थे। माता जीजाबाई देवगिरि के वंश की कन्या थी। उस वंश को जिस प्रकार अत्याचारी अलाउद्दीन ख़िलजी ने नष्ट भ्रष्ट किया था, उसकी कथा पितृपरम्परा

से उसके कानोंमें पड़ती चली आती थी। बालक शिवाजीको वह यह मर्मभेदी वृत्तान्त सुनाया करती थी। इससे शिशु शिवाजी के बालहृदय में मुसलमानों के अत्याचारों के प्रति घृणा के भाव बैठगए थे। जब शिवाजी शैशवावस्था को अतिक्रमण करके कुमार बने, तब वे अपने पिता के साथ यवन राजधानी बीजापुर में जाकर रहने लगे और तीनवर्ष तक वहाँ रहे। बीजापुराधीश नवाब के आदेशानुसार पिता शाह जी ने उन को उक्त नवाब के दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी तो उन्होंने उस समय की प्रचलित प्रथानुसार दरबार में नवाब को साष्टाङ्ग प्रणाम करने में आनाकानी की और साधारण पुरुषों के समान ही नवाब को भी नमस्कार किया। यह उनके बाल्यावस्था से ही 'मानधनाग्रयायी' होनेका प्रबल प्रमाण है। दरबार को जाते हुए कुमार शिवाजी ने मार्ग में एक वधिक को गोघात करते देखा। उनकी गोरक्षक क्षात्रवृत्ति इस दय-नीय दृश्य और घोर अत्याचार को सहन न करसकी और उसने तत्काल वधिक को तलवार के घाट उतार दिया। इसी प्रकार उसने एक ब्राह्मण की गौ बलात् छीनते हुये एक दुष्ट यवन को दण्ड दिया था। कुमार शिवराज की इस प्रकार की तेजस्विता देखकर उसकी माता जीजाबाई ने अपने पति से प्रार्थना करके अपने कुलको बीजापुराधीश नवाब की कोपाग्नि में पड़ने से बचाने के लिये शिवराज सहित पूना नगर में रहना प्रारम्भ किया। श्रीशाह जीने शिवाजी को उनकी माता सहित अपनी पूना की जागीर में दादोजी कोण्डदेव नामक अपने सुचतुर, धार्मिक देशभक्त और विश्वासपात्र सेवक की संरक्षा में रखदिया। पूना में आकर दादोजीकोंडदेव ने शिवाजी को साक्षर शिक्षा देने का बहुत उद्योग किया, किन्तु

शिवाजीका मन उसमें बिलकुल न लगता था । इसके विपरीत उसकी रुचि शस्त्राभ्यास तथा अश्वारोहण आदि क्षत्रियोचित कलाओं में बड़ी प्रबल थी, अतः उसने उन्हीं कलाओं में बड़ी निपुणता प्राप्त की और अक्षर शिक्षा में अपना नाम भी कठिनता से लिखना सीखा, परन्तु अपने सनातन धर्म कर्म में कुमार शिवाजीकी दृढ़ श्रद्धा तथा आस्था थी। रामायण और महाभारतकी कथा जहाँ कहीं होती थी वह उसको वहाँ जाकर बड़े भक्ति भावसे सुनता था। प्राचीन आर्य्यवीरोंकी शूरवीरता के श्रवण से उसको बड़ा आनन्द होता था।

मावल पर्वत के रहने वाली वीर और परिश्रमी मावली जाति से शिवा जी को बड़ा प्रेम था। इन्हीं मावलियों के युवाओं के साथ वह पर्वतों और वनों में घूमा करता था तथा आखेट किया करता था, और दक्षिणके पार्वतीय पथों और घाटियों से उसको पूर्ण परिचय प्राप्त होगया था शनैः शनैः प्रौढ अवस्था को प्राप्त होकर इन्हीं मावली युवकों की एक सेना शिवा जी ने संगठित कर ली और उसकी सहायता से १६ वर्ष की अवस्था में दुर्गम पर्वत पर स्थित तोरण दुर्ग को अपने अधिकार में कर लिया। इसी प्रकार शिवाजी ने बीजापुराधीश के बहुत से दुर्गों पर अधिकार जमालिया—और सं० १७०५ में एक नया दुर्ग बना कर उसका नाम रामगढ़ रक्खा। इसी मध्य में शिवा जी के संरक्षक दादो जी कोंडदेव की मृत्यु होगई। और उस ने अन्त समय में शिवा जी को अपने पास बुला कर गो ब्राह्मण की रक्षा और स्वदेश को यवनों के अत्याचार से छुड़ाने का उपदेश दिया। सं० १७०६ वै० में दादो जी के देहावसान पर शिवा जी ने पूना की जागीर का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया और दो ही वर्ष के भीतर तीस मील तक उस

जागीर को विस्तृत करदिया। शिवा जी की इस अधिकार-वृद्धि को देख कर बीजापुराधीश ने अपने सेनानी अफ़ज़लख़ाँ की अध्यक्षता में उस पर चढ़ाई की परन्तु शिवाजी की वीर-वाहिनी ने अफ़ज़लख़ाँ के छक्के छुड़ा दिये। इस युद्ध का वर्णन शिवाजी के राजकवि भूषण ने इस प्रकार किया है—

उतै बादशाह जू के गजन के ठट्ट छुटे,
उमड़ि घुमड़ि मत वारे घन भारे हैं।
इतै शिवराज जू के छूटे सिंहराज कुम्भ,
करिन विदारि फारि चिक्करत कारे हैं॥
फौजें शेख सैयद मुगल औ पठानन की,
मिले अफ़ज़ल्ल काहू मार न संभारे हैं।
हद हिन्दुआन की बिहद तरवारि राखि,
कैयों बार दिल्ली के गुमान झारि डारे हैं॥ १॥
छूटत कमानन के तीर गोली बानन के,
मुसकिल होत मुरचानहू की ओट में।
ताहि समै शिवराज हुमकि कै हल्ला कीन्हों,
दावा बांधि परयो हल्ला वीर भट चोट में॥
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं गिनौं,
किम्मत यहाँ लग है जाके भट जोट में॥
ताव दै दै मुछन कँगूरन में पांव दै दै,
घाव दै दै अरिमुख कूद परे कोट में॥

शिवा जी से पूर्व तक मुसलमान धर्मप्राण भारतीय वीरों की सरल प्रकृति का लाभ उठाकर उन पर कूटनीति द्वारा विजय करते रहे थे और वे इसी नीति से भारत के एकाधिपति बनगये थे। धर्मधुरीण भारतीय "शठं प्रति शाठ्यं" की नीति से कोसों दूर थे, यही उनकी पराजय का मुख्य हेतु था। किराता-र्जुनीय काव्य में इस नीति की निन्दा इन मर्मस्पर्शी शब्दों में की गई है—

> व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं,
> भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
> प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा-
> नसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥

अर्थ—जो मायावियों के साथ माया का व्यवहार नहीं करते वे मूर्ख पराजय को प्राप्त होते हैं। क्यों कि धूर्त लोग उस प्रकार के मनुष्यों के अंदर घुसकर उन को उसी प्रकार मार देते हैं जिस प्रकार कवच से अरक्षित शरीरों को तीक्ष्ण बाण छेद डालते हैं।

श्रीशिवा जीने इस पद्य के मर्म को भली प्रकार समझ लिया था और वे यवनों के प्रधानशस्त्र कूटनीति से ही उन का उत्तर देने में पूरे सिद्धहस्त थे। बीजापुर के सेनानायक अफ़ज़लख़ाँ ने कपटसन्धि द्वारा उन को अपने से एकाकी भेंट करने के लिए बुलाकर मार डालना चाहा था, परन्तु शिवा जी ने उसकी कुटिलता को पूर्व से ही ताड़ कर उसी प्रतिनियत भेंट के समय व्याघ्रनख से अफ़ज़लख़ाँ का वध कर डाला। अन्त में बहुत से युद्धों से तंग आकर और श्रीशिवा जी से पार न पाकर बीज़ापुराधीशने उनसे सन्धि कर ली और दक्षिण देश में शिवा जी प्रधान शासक बन गए।

इस के पश्चात् हिन्दूद्वेषी औरंगज़ेब ने उस के बल वैभव का विस्तार सुनकर उन पर आक्रमण करने के लिए अपने प्रधान सेनापति शाइस्ताख़ाँ के नायकत्व में प्रबल सेना भेजी, परन्तु उसको शिवा जी की महाराष्ट्र सेना की वक्रगतिभंगी के सामने मुँह की खानी पड़ी। अन्त में कुटिल औरंगज़ेब ने हार मानकर शिवाजी से कपटसंधि करके उनको अपने दरबार में मित्रभाव से बुलाकर अपमानित किया और दिल्ली में पुत्र सहित ठहरे हुए उनको एक महल में अवरुद्ध (नज़रबन्द) करदिया। परन्तु कूटनीतिकुशल शिवा जी अपने चातुर्य से उसके फंदे से मुक्त होकर स्वपुत्र शंभा जी सहित सकुशल अपनी जन्मभूमि में लौट आये और वहाँ पहुंच कर उन्होंने औरंगजेब के दुर्गों पर पुनः आक्रमण कर के उन को अपने राज्य में मिलालिया। इस समय उन के पिता का भी देहावसान होचुका था, अतः उन्होंने अब अपने आप को राज्य का पूर्ण अधिकारी पाकर अपने मंत्रियों के परामर्श से अपने राज्याभिषेक की तैयारी की। काशी से पं० गंगाभट्ट अभिषेकसंस्कार के लिए बुलाए गए और १३ सौर ज्येष्ठ सं० १७३१ वि० को श्री शिवराज का राज्याभिषेक बड़े समारोह से रायगढ़ दुर्ग में किया गया। उन्होंने छत्रपति महाराज की उपाधि धारण की और उन के नाम का सिक्का टकसाल में ढलकर चलने लगा। आज शिवा जी की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और उन्होंने आर्यराज्य की स्थापना करके गो ब्राह्मण की पूर्ण रक्षा की, संस्कृतसाहित्य का उद्धार किया, देववाणी के सैंकड़ों विस्मृतप्राय ग्रन्थों को विपुल धनराशि व्यय कर के पुनः लेखबद्ध कराया।

भूषण कवि ने उनकी प्रशंसा में निम्नलिखित पद्य यथार्थ ही कहे हैं:—

वेद राख्यो विदित पुरान राख्यो सारयुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गल में॥
मीड़ राखे मुगल, मरोड़ राखे बादशाह,
बैरी पीस राखे वरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल शिवराज,
देव राख्यो देवल स्वधर्म्म राख्यो धार में॥

श्रीशिवाजी के अभ्युदय का कारण उनकी स्वाभाविक धर्मप्रीति थी। वे सदाचारमूलक धर्म के बड़े पक्षपाती थे। उस समय मुसलमान बादशाहों के संसर्ग से विलासिता और लम्पटता आदि जो कदाचार हिन्दू राजाओं में प्रसार पागये थे उनसे श्रीशिवराज कोसों दूर थे। एकबार श्रीशिवाजी के अमात्य श्री अबाजी सोमदेव कल्याणप्रदेश को विजय करके वहां के नवाब की पुत्रवधू को बंदी कर लाये थे और उसको उन्होंने शिवराज को अर्पण करना चाहा था। परन्तु शिवराज ने उस परम सुंदरी को पाकर जो वचन कहे थे वे मनुष्यमात्र के धारण करने योग्य हैं। उन्होंने कहा था कि "यदि मेरी माता भी ऐसी ही सुंदरी होती तो मैं उसका पुत्र भी ऐसा ही सुन्दर उत्पन्न होता। जड़देह का सौंदर्य मूढ़ों के चित्त को ही अपनी ओर आकर्षित करता है, वीरवरों व विद्वानों को वह कभी मोहित नहीं करसकता।" उन्होंने उस स्त्रीरत्न का वस्त्राभूषणों से सत्कार करके उसको उसके पति के पास आदरपूर्वक सुरक्षित भेजदिया। इससे "मातृवत्परदारेषु"

बर्तने वाले शिवाजी का सदाचार यशः सौरभ सर्वत्र फैल गया। श्रीशिवाजी की इस स्वाभाविक धर्मप्रीति का कारण उनकी धर्ममूर्त्ति श्रद्धामयी माता थी, जिसने बाल्यावस्था से ही उनके हृदय में धर्म के अंकुर को श्रद्धावारि से सिञ्चित करके बद्धमूल किया था। श्रीशिवाजी के मनोमन्दिरस्थ इस धर्मप्रीति के पौधे को उस समय की संतमंडली ने भी अपने उपदेशामृत से परिपुष्ट और परिवर्धित किया था। उस समय जिसप्रकार मूर्तिमान् क्षात्र तेज शिवाजी के रूप में धराधाम पर अवतीर्ण हुआ था, उसी प्रकार ब्रह्म बल भी महाराष्ट्र देश में स्थान स्थान पर संतमंडली के रूप से प्रकट हुआ था। उनमें श्रीपति, मुकुंदराज, नामदेव, गोरा कुम्हार, एकनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, तुकाराम, गुरु रामदास आदि सुविख्यात नाम हैं। इनमें श्री तुकाराम ने अपनी अलौकिक भक्ति और वैराग्य से जनता को अतिप्रभावित किया था। वे सदा हरिकीर्तन में तत्पर रहते थे। श्रीशिवराज उनके हरिकीर्तन को सुनकर भक्ति के आवेश में तल्लीन होकर आत्मविस्मृत होजाते थे। श्रीरामदास स्वामी भी परम वैराग्यवान् साधु थे। उनमें यह विशेषता थी कि वे अन्य साधुओं के समान संसारचिन्ता को त्यागकर केवल भगवद्भक्ति में ही तत्पर नहीं रहते थे, प्रत्युत यवनों के अत्याचार से परिपीडित जनता को देखकर खिन्न मन होकर उसके उद्धार का भी उपाय करते थे। श्रीशिवराज जब उनके दर्शनों को गए तो उन्होंने उनको धर्मोपदेश देते हुए प्रजा को यवनों के अत्याचार से छुड़ाने का व्रत उनसे लिया, जिसको उन्होंने यावज्जीवन प्राणपण से निबाहा और वैदिक धर्म की रक्षा अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया। श्रीशिवाजी में

दीनदयालुता, परमसहिष्णुता (परधर्माद्वेषिता), परदारेषु मातृबुद्धि, स्वमातृभक्ति, गुणग्राहकता, निरभिमानता, कृतज्ञता, और आस्तिकता ये मुख्य ८ गुण थे। इन्हीं के कारण वे अपनी प्रजा के पितृवत् पूज्य थे और पीछे आने वाली संततियों के सदा सम्मानभाजन रहेंगे। आजकल के नरेश सामन्त और प्रभु लोग उनकी गुणावली का अनुकरण करके अपने इस लोक और परलोक का संग्रह करसकते हैं। वे इस लोक में यशस्वी होसकते हैं और परलोक में परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं। परमपिता उनको सुबुद्धि प्रदान करे।

पद्धति।

श्रीशिवराज जयन्ती या शिवाजी महोत्सव की पद्धति भी अन्य महापुरुषों की जयन्तियों के समान ही है।

—०—

श्रीशिवराज

(१)

इन्द्र जिमि जम्भ पर वाडव सुअम्भ पर,
रावण सुदम्भ पर रघुकुलराज है।
पौन वारिवाह पर शंभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदंड पर चीता मृग झुंड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तिमिरंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लेच्छवंस पर सेर सिवराज है॥

(२)

मार कर बादशाही खाकशाही कीनी जिन,
जेर कीन्ही जोर सो लै हद्द सब मारे की।
खिस गई सेखी फिस गई सूरताई सब,
हिस गई हिम्मत हजारों लोग प्यारे की॥
बाजत दमामै लाखौं धौंसा आगे धुरजात;
गरजत मेघ ज्यों बरात चढ़े भारे की।
दूल्हो शिवराज भयो दच्छनी दमाले वाले,
दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की॥

—०—

श्रीशङ्कराचार्य-जयन्ती

वैशाख सुदि पञ्चमी

संसार सार, हीन मड़ा, सा उड़ा दिया।
अल्पज्ञ जीव, मन्द दशा, से छुड़ा दिया॥
अद्वैत एक, ब्रह्म सबों, को बता दिया।
कैवल्य-रूप सिद्धि सुधा, का पता दिया॥
भ्रम-भेद भरा, शंकरेश, का न ज्ञान है।
महिमा—अखण्ड, ब्रह्मचर्य की महान है॥

(कविवर पं० नाथूराम शंकरकृत)

निवृत्तिमार्ग—मूलक परम धर्म अहिंसा का आधार रखने वाला तथा प्राणियोंका परम उपकारक बौद्धधर्म बहु-शताब्दि-व्यापक काल—क्रम से अपने अनुयायियों के प्रमादों से परिवर्त्तित रूप धारण करके अनेक दोषों से दूषित हो गया। सब से पूर्व धर्मरक्षार्थ बुद्धदेव द्वारा स्थापित भिक्षु-संघ का पतन हुआ। धर्मरक्षक श्रमण (बौद्धभिक्षु) धर्म भक्षक बनकर पापपंक में डूबने लगे। वे परम धर्म अहिंसा को छोड़ कर सब प्रकार का मांस भक्षण करने लगे। भिक्षुओं के विहार विलासियों के विहार बनगये।

शौच के पश्चात् लोटे को उलटा रखना चाहिए वा सीधा इत्यादि तुच्छ बातों पर विवाद करके उनके हीनयान तथा

महायान आदि अनेक उपसंप्रदाय चलपड़े। उनके सम्प्रदायी बौद्ध भी बुद्धदेव के एकमात्र कर्त्तव्यरूप से उपदिष्ट सदाचार को त्यागकर शुष्क विवाद में लगगये और निरीश्वरवादी बनगये। निरीश्वरवाद उनके धर्म का प्रधान सिद्धान्त हो गया। सर्वव्यापक परमेश्वर का विश्वास न रखते हुए भी वे दुर्बलहृदय किसी देवता के बिना स्थिर न रहसके। इस लिये वे प्रथम बुद्धदेव को ही अपना देवता मानकर उनकी मूर्त्ति बनाकर पूजने लगे और फिर अन्य बहुत से देवों की उपासना में लगगये। इसप्रकार जड़ द्रव्यों की आराधना और प्रेत-पूजा आदि बहुत से घृणित कार्यों ने उन के कर्म-काण्डका रूप धारण करलिया।

बौद्धों की यह दुर्दशा देखकर उन के पुराने विरोधी सनातन कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने उन्हीं के तर्कों से उन का विरोध आरम्भ करदिया और बहुत से स्थानों पर अकाट्य तर्कों से उनको पराजित करके कर्मकाण्ड की श्रेष्ठता की स्थापना की। पशुवधात्मक यज्ञ फिर प्रचलित होगए। वेदों का ज्ञान-काण्ड सर्वथा लुप्त होगया। वेदमन्त्रों का उद्देश्य केवल किसी यज्ञ में विनियोग माना जाने लगा, उन के अर्थों के विचार की चर्चा बिल्कुल लुप्त होगई।

कर्मकाण्डियों के सम्प्रदाय के साथ ही शैव, शाक्त पाशुपत, क्षपणक, कापालिक, भैरव, सौर, गाणपत्य आदि नाना सम्प्रदाय चलपड़े। वे नाना देवों की उपासना करते थे तथा अपने २ उपास्य देव को सर्वोत्कृष्ट समझकर दूसरों के इष्ट देवों की निन्दा करते थे। उन में परस्पर विरुद्ध पूजा पद्धतियां प्रचलित थीं। उन में से कौल तथा भैरव आदि कुछ सम्प्रदाय ब्रह्महत्या, सुरापान आदि महापातकों को अपने

धर्म का अंग मानकर अपने लिये नरक का मार्ग परिष्कृत करते थे। पवित्र भारतभूमि सर्वत्र कदाचारों से और पातकों से पूर्ण होगई। सृष्टि के आदि से लेकर यह नियम चला आता है कि धर्म के नाश तथा अधर्म के अभ्युदय होने पर परमात्मा की प्रेरणा से महापुरुषों की आत्मायें इस धराधाममें अवतीर्ण होता रही हैं। इसी नियम के अनुसार उस घोर समय में जगदुद्धारक श्रीशङ्कराचार्य जी ने संसार के कल्याण के लिए इस पृथिवी को अलंकृत किया।

किसीसमय दक्षिणके केरल (ट्रावनकोर राज्य मलाबार)देशान्तर्गत परमपवित्र परशुराम क्षेत्रमें पूर्णा नामक नदीके तट पर जो आजकल एलेशोई के नाम से प्रसिद्ध है कालटी (वर्त्तमान काजड़ी) नामक ग्राम में, वेद वेदाङ्गों का पारंगामी सदाचारी धर्मप्राण विद्याधिराज नामक एक ब्राह्मण रहता था। उस के पुत्र का नाम शिवगुरु था। शिवगुरु ने गुरुकुल में साङ्गोपाङ्ग वेद विद्या पढ़कर गुरु की आज्ञा से घर आकर, गुरु और माता के आग्रह से, अपने सदृश सुलक्षणा आर्याम्बा नामक विदुषी से विवाह किया। उस से २५९३ कलि संवत् में विक्रम से ४५२ वर्ष पूर्व उत्तरायण मेष राशि में वैशाख सुद्दि पञ्चमी रविवार को पुनर्वसु नक्षत्र में सुलक्षणयुक्त पुत्ररत्न का जन्म हुआ।

पुत्र के जन्म से प्रसन्न होकर शिवगुरु ने नवजात पुत्र का कल्याणकर नाम शंकर रक्खा। समय पाकर बालकका यह नाम सार्थक सिद्ध हुआ।

शङ्कर ने बाल्यावस्था में ही अलौकिक प्रतिभा और विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया। उस की बुद्धि की प्रखरता को

देख कर पिता ने तीसरे वर्ष ही उसको वर्णमाला सिखलादी। बालक शंकर जो एक बार सुन लेता था उसको ही कण्ठाग्र कर लेता था, कभी न भूलता था। चित्सुखाचार्य ने जो बाल्यावस्था में शंकर के सहपाठी तथा यौवन में जीवन भर के साथी उस के शिष्य और अनुयायी थे, लिखा है कि पिता ने पाँचवें वर्षमें ही शंकरका उपनयन संस्कार किया था और दो वर्ष में ही उसने व्याकरण, साहित्य, अन्य सब शास्त्र और साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़लिए थे। बालक शङ्करने स्वाभाविक प्रतिभा विलक्षण विद्या साधु स्वभाव और दयालुतासे अपने ग्राम-वासियोंका मन मोह लिया था और वह उनका प्रशंसा-पात्र बन गया था।

इस प्रकार शङ्कर शीघ्र ही सम्पूर्ण शास्त्रों का पारंगामी बनगया। शङ्कर की विद्यासमाप्ति का दर्शन उस के पिता के भाग्य में न बदा था। वह वृद्ध होकर शङ्कर की आयु के अष्टम वर्ष के आरम्भ में ही परलोकवासी हो गया था। इस दुर्घटना ने शङ्कर के स्वाभाविक वैराग्य को और भी जगादिया और उसने संसार को त्याग कर संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का विचार किया। किन्तु परमपूज्या, पतिवियोगकातरा माता की प्रीति से एक वर्ष तक वह अपना मनोरथ पूरा न कर सका। उस ने अपने पिता के वार्षिक श्राद्ध के पश्चात् संन्यासदीक्षा के लिए माता से आग्रह किया, किन्तु माता ने यावज्जीवन अकेले रहने के भय से अनुमति नहीं दी।

कुछ दिनों के अनन्तर एक बार, जब शङ्कर माता के साथ नदी में स्नान कररहा था, तब उस का पैर मगर ने पकड़ लिया। वह माता से बड़ी दीनता से बोला" हा माता, मगर मुझको पकड़े हुए है, मैं एक पग भी नहीं चलसकता। यदि मैं संन्यास का अपना मनोरथ पूर्ण होने से पूर्व ही मर

जाऊँगा, तो मेरी आत्माको परलोक में भी शान्ति न मिलेगी। माता ने उक्त कातरोक्ति को सुन कर और पुत्र की यह अवस्था देखकर और उसका कोई प्रतिकार न पाकर तत्क्षण उसको आपत्संन्यास लेने की अनुमति देदी। शङ्कर के संन्यास दीक्षा ग्रहण करते ही मगरने उसका पैर छोड़दिया। उसने मनमें संन्यास लेकर और जल से बाहर निकल कर माता को प्रणाम करके कहा—"माता" जब आप मुझ को स्मरण करोगी तब मैं आपकी आज्ञापालन के लिए आपकी सेवा में उपस्थित होजाऊंगा।" इस प्रकार माता को सान्त्वना देकर छोटी अवस्था में ही संसार का त्याग करके भी शङ्कर ने अपने कर्मक्षेत्र को अपने निवासग्राम कीसंकीर्ण अवधि से समस्त पृथिवीतल पर विस्तार करते हुए परम पवित्र चतुर्थाश्रम में प्रवेश किया।

युवा सन्यासी शंकर स्वप्रतिज्ञा को माता से फिर दोहरा करके कर्म सन्यास की दीक्षा लेने के लिए गुरु की गवेषणा में एकाकी चलदिया। मार्ग में समुद्र के पश्चिम तट पर स्थित गोकर्ण नगरी में पहुंचकर उसको अपने ग्राम का जटा का सहपाठी विष्णु शर्मा मिला तथा उसके साथ होलिया। कुछ काल के पश्चात वह शंकर से सन्यास लेकर चित्सुखाचार्यके नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं चित्सुखाचार्य ने ३६१ वि० पूर्व में ब्रह्मस्वरूपाचार्य के अनन्तर द्वारकामठ के तीसरे आचार्य का पद ग्रहण किया था और ८० वर्ष की अवस्था में विक्रम से ३६७ वर्ष पूर्व पौष सुदि ३ को परम पद प्राप्त किया था। उन्होंने स्वरचित, बृहदाकार होने के कारण बृहच्छंकरविजय नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि 'शंकर ने संन्यास ग्रहण से पूर्व ही मौलिक और लौकिक विद्याओं के विलक्षणज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का प्रकाश किया था।

चित्सुख शंकर से पाँच वर्ष बड़े थे। उनके सतत सहयोगी और शिष्य होने के कारण आँखों देखा उनका लिखित शङ्कर का जीवनवृत्तान्त बहुत विश्वसनीय है। उनके रचितबृहच्छंकरविजय में श्री शङ्कर तथा सुरेश्वर के समग्र चरित, और उनके बनाए हुए विविध ग्रन्थों का विस्तृत वर्णन है। उनके भाष्यों का नामोल्लेख करके उनके सब लघु निबन्धों का संग्रह उनके निर्माणावसर के निर्देश पूर्वक उसमें विद्यमान है। यह ग्रन्थ पूर्वाचार्यसत्पथ, शंकराचार्यसत्पथ और सुरेश्वराचार्यसत्पथ इन तीन प्रकरणों में विभक्त है। यह उपयोगी पुस्तक, बड़े खेदकी बात है, कि छपकर अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। उसकी हस्त लिखित प्रति द्वारका के शारदा मठ में विद्यमान है। उसके कर्ता चित्सुख वेदांतभाष्य की चित्सुखी नाम्नी टीका के भी कर्ता प्रतीत होते हैं।

इहां चित्सुख के साथ उत्तरीय भारत में घूमते हुए श्री शंकराचार्य ४४८ वि० पू० फाल्गुन सुदि २ को नर्मदा तटस्थ अमरकंटक में श्री गोविंद योगी से मिले। गोविन्द योगी पहिले गृहस्थाश्रम में चंद्रशर्मा वा चद्राचार्य नाम से विख्यात वैयाकरण थे। वे पहिले पूर्व देशमें रहते थे, पीछे उज्जयिनी में रहने लगे। उन्होंने चारों वर्णों की एक एक स्त्री से विवाह किया था और उन से क्रम से भर्तृहरि, विक्रमादित्य, भट्टि और वररुचि नामक ४ पुत्र उत्पन्न हुए।

ब्राह्मणी के पुत्र भर्तृहरि कुछ काल तक उज्जयिनीमें राज्य करके अपनी रानी के दुराचार से विरक्त होकर छोटे भाई क्षत्रिया के पुत्र विक्रमादित्य को राजसिंहासन देकर संन्यासी

होगये थे। उन्होंने कण्व शाखाका बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, वाक्यपदीय व्याकरण कारिका और भर्तृहरिशतक नाम से प्रसिद्ध सुभाषितावली ये तीन ग्रन्थ बनाए थे। उनसे प्रत्येक संस्कृत भाषानुरागी परिचित है।

क्षत्रिया से उत्पन्न विक्रमादित्य विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठा था। इसकी उपाधि श्रीहर्ष थी राजतरंगिणी में मातृगुप्त नाम से उसका वर्णन है। उसी समय से उसका हर्षाब्द प्रचलित हुआ, जो नैपाल आदि प्रान्तों में अब भी प्रचलित है, प्रसिद्ध मुसल्मान यात्री अल्बैरूनी ने अपने पर्यटन वृत्तान्त में उसका उल्लेख किया है। यह विक्रमादित्य ईसा से ५७ वर्ष पूर्व मालवाब्द नाम से प्रसिद्ध विक्रम सम्वत चलाने वाले वीर विक्रम से भिन्न है।

वैश्या का पुत्र भट्टि भट्टिकाव्य का कर्ता प्रसिद्ध ही है। शूद्रा का पुत्र वररुचि उस वररुचि से भिन्न प्रतीत होता है, जिस का दूसरा नाम कात्यायन था और जिसने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर वार्तिक बनाये हैं, क्योंकि वार्तिक कार वररुचि अष्टाध्यायीकार वर्षाचार्य के शिष्य तथा व्याडि इन्द्रदत्त आदि के सहपाठी पाणिनिमुनि का सहपाठी था। यहाँ वर्णित वररुचि प्राकृतप्रकाशिका नामक प्राकृतव्याकरण का कर्ता प्रतीत होता है। यद्यपि गोविंद भगवत्पाद अपने गुरु गौड़पादाचार्य के समान विद्वान् तथा ग्रन्थकार नहीं थे, तथापि वे शुकयोगीन्द्र के समान सहज सिद्ध और योगी थे। उनके बनाए हुए योगतारावली

अद्वैतानुभूति और ब्रह्मामृतवर्षिणी ये ३ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। श्री शंकर ने गोविन्द योगी से नियम पूर्वक संन्यास दीक्षा ली और श्रीचित्सुखाचार्य के वर्णनानुसार उनसे २ वर्ष तक वेदान्त और उस समय प्रचलित अन्य दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन किया।

गुरु से पढ़े हुए ग्रन्थों में गौड़पादाचार्य की कारिकाओं ने शंकर को बहुत प्रभावित किया। उनमें वट के बीज में गुप्त रूप से निहित वट वृक्ष के समान अद्वैततत्त्व के मूल को पाकर इन्होंने उसका भाष्य बनाने के लिये परम गुरु की अनुमति प्राप्त्यर्थ उनका साक्षात्कार करना चाहा। इस कामना से प्रसन्न होकर गोविंद भगवत्पाद ने शंकर को अपने गुरु गौड़पादाचार्य के पास बदरिकाश्रम में पहुंचा दिया। शंकर ने १२० वर्ष के वृद्ध ब्रह्मनिष्ठ गुरु के दर्शन करके परमानन्द प्राप्त किया और चार वर्ष तक उनसे शास्त्र पढ़े। उन्हीं दिनों में शंकर ने परम गुरु की मांडूक्योपनिषत्कारिकाओं के भाष्य बनाने की अनुमति उन से प्राप्त करके अपने प्रस्थानत्रयी के भाष्य के उपोद्घात रूप में उसकी रचना की। कारिकाओं के भाष्य से सन्तुष्ट होकर गौड़पादाचार्य ने शंकर को प्रस्थानत्रयी का भी वैसा ही भाष्य बनाकर संसार में वेदान्तदर्शन का प्राधान्य स्थापित करने की आज्ञा दी। उन्हीं चार वर्षों में शंकर ने वेदांतप्रस्थानत्रयी का प्रसिद्ध भाष्य बनाकर अलौकिक प्रतिभा और विलक्षण कार्य कारिणी शक्ति दिखलाई। तत्पश्चात् श्रीगौड़पादाचार्य और गोविंदभगवत्पाद ने शंकर को अद्वैत सिद्धान्त के प्रचारार्थ प्रसिद्ध विद्या पीठ बनारस जाने के लिये प्रेरणा की

और इस कार्य में सफलता के लिए उनको आशीर्वाद दिया। यह स्वीकार करके शङ्कर अपने चिरमित्र और नव दीक्षित शिष्य चित्सुख के साथ बनारस जाना ही चाहते थे कि उन का सगोत्रीय अग्निशर्मा कालटी से उन की वृद्धा माता के असाध्य रोगके समाचार लाया यह सुनकर शङ्कर निराश होकर चित्सुख के साथ कालटी को चल दिए। और अपनी वृद्धा माता को देखने के औत्सुक्य से पर्वत और वनों को त्वरितगति से पार करते हुए, अपनी जन्म भूमि में पहुचे। उनकी माता, यद्यपि अत्यन्त कृश और दुर्बल होगई थी तथापि उस में आंगन में चलने फिरने की सामर्थ्य थी और अन्तिम क्षण में अपने इकलौते पुत्र को देख कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुई।

शङ्कर ने भी संन्यासियों के नियमों का उल्लङ्घन कर के दौड़ कर अतिश्रद्धा से माता के चरण छुए और पुत्रोचित भक्ति के आवेश में उसको लिपट गया। पुत्र वत्सला माता ने पुत्रके अङ्ग स्पर्श से अपने को नितान्त नीरोग और पूर्ण प्रसन्न अनुभव करते हुए शंकर को उस के उठाए हुए महाकार्य की पूर्तिके लिए आशीर्वाद दिया और परमानन्द पूर्वक योगीके समान शरीर त्याग किया। श्रीशंकरने संन्यास ग्रहणके समय, माता से जो प्रतिज्ञा की थी उस के अनुसार माता की और्ध्व-दैहिक क्रिया संन्यासधर्म के विरुद्ध भी अपने हाथ से की और केरल देश के ब्राह्मणों की प्रथानुसार अपने घर के पिछले आंगन में चिता बनाकर उसका देहदाह किया। दाह के समय उन्होंने मातृस्तुति नामक पांच पद्यों का एक छोटा सा काव्य बनाया जिस से उनकी मातृभक्ति की पराकाष्ठा प्रमाणित होती है। माता के ऐसे परमभक्त शंकर के ये कवितामय

उद्‌गार स्वाभाविक ही हैं। उक्त मातृस्तुति का हृदयस्पर्शी प्रथम पद्य यह है—

आस्तां तावदियं प्रसूतिसमये दुर्वारशूलव्यथा,
नैरुच्ये तनुशोषणं मलमयी शय्या च सांवत्सरी।
एकस्यापि न गर्भभारभरणक्लेशस्य यस्याः क्षमा,
दातुं निष्कृतिमुन्नतोऽपि तनयस्तस्यै जनन्यै नमः॥

उसी समय सनन्दन नामक युवा ब्राह्मण ने कालटी आकर शंकर को यह समाचार सुनाया कि उसके सम्मान्य गुरु गोविन्द भगवत्पाद बदरिकाश्रम से अमरकण्टक में नर्मदा तटस्थ अपने आश्रम में लौट आए हैं और बहुत रुग्ण हैं। वे अपनी परलोक यात्रा से पूर्व प्रियशिष्य शंकर को देखना चाहते हैं। शंकर चरितके प्राचीन लेखक चित्सुख और आनन्द गिरि लिखते हैं कि सनन्दन लक्ष्मीनरसिंह के मन्दिरसे प्रसिद्धि-प्राप्त अहोबल नगर के निवासी लक्ष्मी तथा महादेव नामक धनाढ्य धार्मिक दम्पती का पुत्र था। उसके माता पिता बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार गये थे। तब उसके मामा दिवाकराध्वरी ने, जो पूर्व मीमांसा के आचार्य प्रभाकर का शिष्य था, उसका पालन पोषण और शिक्षण किया और जब यह शीघ्र ही वैदिक तथा लौकिक साहित्य का पारगामी होगया तब उसके मामा ने उसका विवाह अपनी पुत्री से कर दिया था। मामा के मीमांसा मत को स्वीकार न करते हुए उसने नवोढा भार्या के साथ सुख रहित जीवन बिताया, और मामा के साथ कलह रहने के कारण उसका धन और घर त्यागकर अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्‌गुरु की गवे-षणा में चल दिया। श्री शंकर की कीर्ति से आकृष्ट होकर और

उनकी बदरिकाश्रम में स्थिति सुनकर वह वहीं गया और उनका अपनी रुग्ण माता के पास गमन तथा उनके गुरु गोविंद भगवत्पाद का भी रोगी होकर नर्मदा तटस्थ अपने आश्रम को प्रस्थान सुनकर गोविन्द भगवत्पाद के साथ उनके आश्रम तक आया और वहां से उन का संदेश लेकर शंकर के पास कालटी गया। उसके वृत्तान्त से सन्तुष्ट होकर श्रीशंकर ने उसको अपना शिष्य बनाने और रुग्ण गुरु के दर्शन के पश्चात् उसको सन्न्यास दीक्षा देकर वेदान्त का उपदेश करने की प्रतिज्ञा की। फिर उसके और चित्सुख के साथ अमरेश्वर को चल दिये, और एक मास में गुरु के आश्रम में पहुंचकर नर्मदा के मध्य में मान्धाता द्वीप में वैदूर्य पर्वत पर अति वृद्ध चेतनाशून्य गुरु को देखा। वहां उनके पास उनके पुत्र भर्तृहरि तथा अन्य मुख्य शिष्य बैठे हुए उनके प्राणोत्क्रमण की प्रतीक्षा कररहे थे। गोविन्द भगवत्पाद ने प्रियशिष्य शंकर की मधुर ध्वनि से चेतना को प्राप्त होकर नीरोगी के समान शय्या से उठकर स्नेह से उनका आलिङ्गन किया और अद्वैतमत के स्थापनार्थ भारत में दिग्विजय करने की आज्ञा दी और अपने सब शिष्यों को शङ्कर की आज्ञा पालन करने का आदेश दिया। अपने अन्तिम क्षणों में दिग्विजय यात्रा में विजय लाभार्थ शङ्कर को आशीर्वाद देते हुए और ओंकार का उच्चारण करते हुए गुरु गोविन्द योगी ने विक्रमाब्द से ४३६ वर्ष पूर्व कार्तिक सुदि पूर्णिमा को योग से शरीर त्याग दिया।

गुरु की और्ध्वदैहिक समाधि क्रिया के पीछे श्री शङ्कराचार्य ने सनन्दन को संन्यास देकर उसका नाम पद्मपाद रक्खा और उसको अद्वैत तत्वका उपदेश करने के लिए आत्मबोध

नामक प्रसिद्ध कवितामय वेदान्त ग्रन्थ बनाकर उसको तथा अपनी शिष्यता स्वीकार किये हुए गुरु गोविन्द योगी के शिष्यों को भी पढ़ाया।

तदनन्तर श्री शङ्कराचार्य सब शिष्यों के साथ दिग्विजय-यात्रा के लिए चलदिये। सब से प्रथम वे प्रसिद्ध तीर्थ प्रयागराज पहुंचे और वहाँ शास्त्रार्थ और वेदान्त तत्व के उपदेश द्वारा प्रसिद्ध होकर नाना देशों से आए हुए असंख्य शिष्यों को प्रस्थानत्रयी का भाष्य पढ़ाया। ब्रह्मसूत्र, दशोपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं। एक बार वेदान्त का प्रचार करते हुए शङ्कराचार्य शिष्यों सहित प्रयाग के सामने गंगा के पार स्थित चन्द्रवंशियों की प्राचीन राजधानी प्रतिष्ठानपुरी में, जो उस समय श्रीवल्ली नाम से प्रसिद्ध थी और ब्राह्मणों का ग्राम था पहुंचे। अब यह स्थान कभी अग्नि से भस्मावशेष बनाया हुआ, इलाहाबाद के अकबर के किले के सामने गंगा के पार झूँसी नामसे प्रसिद्ध है। उस गाँव का प्रमुखपुरुष कुमारिल भट्ट का श्रेष्ठ शिष्य पूर्वोल्लिखित प्रसिद्ध पूर्व मीमांसक प्रभाकराध्वरी था। वह कर्ममीमांसा पक्ष में अपने गुरुसे भी बढ़ा हुआ था। वह वैदिक यज्ञादि कर्म न करने वालों की बड़ी निन्दा करता था और यज्ञादिक कर्मकाण्ड को ही सर्वशास्त्रों में सर्वोपरि उपदिष्ट कर्म मानता था, उसके मत में सम्प्रदान कारकान्त देव (यथा अग्नये स्वाहा इत्यादि) से परे कोई अन्य देव न था। अपने पक्ष को सर्वोत्कृष्ट जानते हुए प्रभाकराध्वरी श्रीशंकराचार्य को अपने ग्राम में आया हुआ सुनकर उनको भी अपना अनुयायी बनाने के लिए

असंख्य अनुयायियों के साथ उनके पास गया और उनके सामने कर्मकांड पक्ष की सर्वप्रधानता प्रस्तुत की।

शंकराचार्य ने शान्तिपूर्वक उस से विचार करके थोड़ी ही देर में उसी के तर्कों से उस से यह स्वीकार करा लिया कि ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम उपाय है तथा वेदोक्त कर्मकाण्ड चित्तशुद्धि और पराभक्ति का साधन मात्र है। उन के अजेय तर्क से प्रभाकराध्वरी सारे ग्राम सहित श्री शंकर का अनुयायी होगया।

श्री शंकराचार्य की अधीनता को प्राप्त होकर प्रभाकर ने गूँगे बहिरे स्थाणु (ठूठ) के सदृश अपने पुत्र पृथिवीधर को उस का रोग दूर करने के लिए आचार्य के चरणों में उपस्थित किया। बालक पृथिवीधर पांच वर्ष का होकर भी नवजात बालक के समान न कुछ सूँघता था न खाता था न पीता था और कीट आदि के काट लेने पर भी हिलता जुलता तथा बोलता नहीं था। पिता ने उस को पिशाचग्रस्त वा यक्षपीडित वा ब्रह्म राक्षसाक्रान्त समझ कर अनेक मन्त्र तन्त्र और विविध उपाय किये किन्तु उसका रोग दूर नहीं हुआ, इससे वह बहुत चिन्तित रहता था और उसने सानुनय श्री शंकर से रोगमोचन की प्रार्थना की। शंकर ने प्रणिधान द्वारा यह जाना कि यह बालक सहज योगी और बाल्यावस्था से ही ब्रह्मज्ञानी है। उस ने पिता के आग्रह से याज्ञिक कर्म-काण्ड से बचे रहने के लिये मूक तथा जड़ वृत्ति धारण कर रक्खी है। शंकर ने बालक को छूकर निम्नलिखित श्लोक द्वारा प्रश्न किया—

कस्त्वं शिशो, कस्य, कुतोऽसि गन्ता,
किन्नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।

एतद्वद त्वं मम सुप्रसिद्धं,
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि ॥

हे बालक तू कौन है ? किस का है ? कहाँ जायगा ? तेरा नाम क्या है ? और तू कहाँ से आया है ? मुझ को प्रसन्न करने के लिए यह प्रसिद्ध बात तू मुझ को बतला। तू मेरी प्रीति को बढ़ाने वाला है। बालक पृथिवीधर ने उस के उत्तर में यह सुन्दर पद्य कहा—

निमित्तं मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ,
निरस्ताखिलोपाधिराकाशकल्पः।
रविर्लोकचेष्टानिमित्तं यथा यः,
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥

अर्थात्—जिस प्रकार सूर्य लोकचेष्टा का कारण है अर्थात् उसी के प्रकाश से सब लोक व्यवहार होते हैं; उसी प्रकार जो मन, नेत्रादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण है, जो सब उपाधियों से रहित आकाश सदृश नित्य उपलब्धिस्वरूप वाला है, सदा वर्तमान रहता है अर्थात् नित्य है, मैं वही आत्मा हूं।

हस्तामलकवत् उस बालक के चित्स्वरूप के वर्णन से सन्तुष्ट होकर श्रीशंकर ने उस पद्य और उस के बनाने वाले का नाम हस्तामलक रख दिया। बालक के पद्य पाठ और सन्न्यास प्रार्थना से प्रभावित होकर प्रभाकर ने शंकराचार्य्य से उस को संन्यास देने तथा अद्वैत तत्त्व का उपदेश करने की प्रार्थना की। आचार्य ने भी यह स्वीकार करके विक्रम से ४२८ वर्ष पूर्व आश्विन शुक्ला ११ को उस को संन्यास में दीक्षित किया और उसी समय तत्त्वोपदेश नामक पद्य प्रकरण

बना कर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। पीछे से हस्तामलक श्री-शंकर का प्रधान शिष्य और अद्वैतमत का प्रबल पोषक बना।

प्रभाकर के श्रीशंकर का अनुयायी बन जाने और उस के गूंगे बहिरे पुत्र पृथिवीधर के उनके अनुग्रह से हस्तामलक बनजाने से प्रयाग के आस पास शंकराचार्य का प्रभाव और प्रताप और अधिक फैल गया और सहस्रों मनुष्य उनके अनुयायी बनगए और उन को देशिकेश्वर (आध्यात्मिक गुरुओं के स्वामी) कह कर पुकारने लगे। देशिकेश्वरता को प्राप्त होकर शंकराचार्य साधुवाद और जयघोष के साथ सहस्रों शिष्यों सहित भारद्वाज के आश्रम को गए।

दूसरे दिन प्रातः काल त्रिवेणीतट पर स्नान करते हुए आचार्य ने कर्मकाण्ड के प्रबल पोषक जैनविजयी, कुमारिल भट्ट का अग्नि में प्रवेश करने का समाचार सुना और शीघ्र ही उनके घर जाकर उनको प्रज्ज्वलित तुषानल में बैठकर प्रायश्चित्तपरक मन्त्रों का उच्चारण करने वाले ब्राह्मणों से घिरा हुआ और इस प्रकार गुरुद्रोह का प्रायश्चित्त करते हुए पाया।

कुमारिलभट्ट वेद वेदांगों के पारंगामी दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उन्होंने जैमिनिकृत कर्मकाण्ड की प्रतिपादक पूर्वमीमांसा का विशेष अभ्यास करके उस के शाबर भाष्य पर तन्त्रवार्तिक नामक टीका बनाई थी और देशदेशान्तर में वेदोक्त कर्मकाण्ड का प्रचार किया था। जब उन्होंने देखा कि विक्रम से पूर्व आठवीं शताब्दी में श्रीपार्श्वनाथ के चलाए हुए और विक्रमपूर्व छठी शताब्दि में श्रीवर्धमान महावीर के पुष्ट

किए हुए जैनधर्म ने सनातनधर्म को दबा रक्खा है, तब उन्होंने जैनों का विजय और उन्मूलन करने के लिए जैनमत के रहस्यों को जानना चाहा और जैनियों के मन में विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपने आप को अब्राह्मण बतलाते हुए जैन वेष धारण करके श्रीवर्धमान महावीर के शिष्य बन गए और उन से उनके अन्य शिष्यों के साथ वेदों की निन्दा में रत रह कर, कुछ वर्षों तक जैनग्रन्थों का अध्ययन किया और जैन सिद्धान्तों के रहस्यों को जाना। एक दिन वर्धमान ने वेद, ब्राह्मण, यज्ञ और देवताओं की बहुत निन्दा की। उस को सुन कर कुमारिल का हृदय विदीर्ण होगया और उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। आंसुओं को देखकर उनके सहाध्यायियों ने उनका कारण पूछा। कुमारिल ने यह बहाना बनाया कि गुरु जी के सुतर्क को सुनकर मुझ को आनन्दाश्रु आगए हैं। जैन शिष्यों ने उन की उक्ति का विश्वास नहीं किया और उन को ब्राह्मण समझकर गुरु से कहकर और उनकी आज्ञा लेकर प्रासाद से गिरा कर बाहर निकाल दिया।

"यदि वेदाः प्रमाणं स्युर्जीवेयम्" (यदि वेद प्रमाण हों तो मैं जीवित रहूँ) यह ध्यान कर के प्रासाद से गिर कर वे जीते रहे। "यदि" इस संशय शब्द के उच्चारण और गुरुद्रोह के कारण उनकी केवल एक आंख जाती रही। फिर वे जैनियों का खण्डन उन्हीं की युक्तियों से सर्वत्र करते रहे। उन्होंने सौराष्ट्र (वर्तमान गुजरात) के राजा सुधन्वा की राजसभा में उन से भारी शास्त्रार्थ करके जैनमत का पूर्ण पराजय किया और भारत से उस का प्रभाव हटा कर वेदोक्त कर्मकाण्ड का पुनः प्रचार किया।

किन्तु कपटाचार और गुरुद्रोह से प्राप्त विद्या के बल से

विजय पाकर भी कुमारिल के मन में ग्लानि हुई और उन्होंने अपने देह को तुषानल में जलाकर प्रायश्चित्त से अपनी आत्मा की शुद्धि की। अन्त समय में जब श्रीशङ्कराचार्य उन से मिलने गये तब उन का शरीर आधा जलचुका था और कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है इस विषय के विचार की प्रार्थना श्रीशङ्करके करनेपर उन्होंने अपना असामर्थ्य दिखलाकर उन से अपने समान ही कर्मकाण्ड के परम पोषक और अपने समकक्ष मंडन मिश्र के पास जाकर उन से तद्विषयक संवाद करने की प्रार्थना करके परलोक को प्रयाण किया।

पंडितप्रवर महामति मंडनमिश्र कुमारिल भट्ट के बहनोई थे। वे "विद्यालय" वा अपरनाम "त्रिजिलबिन्दु" नाम से विख्यात स्थान में रहते थे। उन का गृह दास दासी आदि विविध ऐश्वर्यों से सम्पन्न था और षड्दर्शन का अध्ययन करने वाली शिष्यमंडली से सदैव घिरा रहता था।

श्रीशङ्कराचार्य कुमारिल भट्ट के आदेशानुसार पद्मपाद आदि शिष्यसमूह सहित उस नगर को चलदिये और वहां पहुंच कर नगर से बाहर ठहर कर, नित्यकर्म से निवृत्त हो कर, उन्होंने श्रीमण्डन मिश्र का घर ढूँढने के लिए नगर में प्रवेश किया। मार्ग में कुए पर जल भरती हुई पनिहारियों से उनके घर का पता पूछा। उन के उत्तर श्रीमाधवाचार्य की रचना के नामसे प्रसिद्ध * शङ्करदिग्विजय में निम्नलिखित सुन्दर श्लोकों में दिए हुए हैं।

---

* उक्त शङ्करदिग्विजय, "The Age of Shankar" के कर्ता पं० नारायण शास्त्री के अन्वेषणानुसार श्री माधवाचार्य के नाम से माधव पर्याय नामधारी शृङ्गेरीमठ के आश्रित किसी

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं,
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा,
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ १ ॥
फलप्रदं कर्म फलप्रदोऽजः,
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा,
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ २ ॥
जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्-
कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा,
जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ ३ ॥

अर्थ—जहाँ द्वार पर लटके हुए पिञ्जरों की तूतियाँ वेद स्वतः प्रमाण हैं वा परतः प्रमाण हैं? मनुष्यों को फल देने वाला कर्म है वा ईश्वर? जगत् नित्य है वा अनित्य? इत्यादि वाक्य बोल रही हों उसी को तुम मण्डनमिश्र का घर जानो।

ये ही उत्तर श्रीआनन्दगिरि के शङ्करविजय में निम्न लिखित मनोहर पद्यों में वर्णित हैं।

पं० नारायण शास्त्री नामक विद्वान् ने शृंगेरी मठ के उत्कर्ष स्थापनार्थ गतशताब्दी में बनाकर प्रकाशित कराया था। उन के दिए हुए प्रबल प्रमाणों से इस बात की बहुत कुछ पुष्टि होती है।

प्रत्यक्षशब्दान्तविधिप्रभेदैः,
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ १ ॥

जीवेश्वरैक्येन भिदा प्रभेदैः,
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ २ ॥

जैनोक्तिभिः कालविदुक्तिभेदैः,
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ ३ ॥

कापालिकैर्भैरवपक्षपादैः (?),
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ ४ ॥

भक्त्यादिभिः शैवमतप्रभेदैः,
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ ५ ॥

गणेशविष्णवर्कपरामृतार्थैः,
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ ६ ॥
काव्यादिभिर्नाटकसिद्धवादैः,
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ ७ ॥
आकर्षणोच्चाटनसिद्धमन्त्रैः,
शुकाङ्गना यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तरसन्निरुद्धा,
अवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ॥ ८ ॥

जहाँ द्वार पर पिञ्जरोंमें स्थित तूतियाँ, प्रत्यक्ष और शब्दादि विविध प्रमाणों, जीव और ब्रह्म के ऐक्य वा भेद, जैनियों और कालवादियों, कापालिक और भैरवों, भक्तिवादी शैवों, गणेश, विष्णु, सूर्य और परामृत के उपासकों, काव्य और नाटक आदि के सिद्धान्तों तथा आकर्षण, उच्चाटन के सिद्ध मन्त्रों के विषय में बातें कररही हों उसी को तुम मण्डन मिश्र का निवास जानो।

इन श्लोकों से इन के कर्ताओं का तात्पर्य यह दिखलाना है कि मण्डन मिश्र के यहाँ विविधवादों वा सिद्धान्तों की दिन रात ऐसी चर्चा रहती थी कि उन को तूतियों ने भी तद्विषयक बार बार सुने हुए वाक्यों को रट लिया था। श्री-शङ्कराचार्य ने आश्चर्य के साथ सारे शास्त्रों के सिद्धान्तों से

युक्त पनिहारियों के इन वचनों को सुन कर और उस विदुषी-समूह को वहीं छोड़कर उनकी बतलाई हुई पहिचान के अनुसार मण्डन मिश्र के अभ्रंकष प्रासाद को जान कर उसके द्वार को बन्द पाया। द्वार बन्द होनेका यह कारण था कि उस समय मण्डन मिश्र श्राद्ध कररहे थे और उस में किसी सिर मुंडे सन्न्यासी के अशुभ प्रवेश की आशंका से उन्हों ने द्वार बंद कर रक्खा था। आशङ्कराचार्य योगबल से अन्तरिक्ष वा किसी गुप्त मार्ग से भीतर पहुंच गए और मण्डन मिश्र के सामने जाकर चुपचाप खड़े होगए। वेदोक्त कर्मकाण्ड को ही सब कुछ समझने वाले और कर्मत्यागी सन्न्यासी का सदा निरादर करनेवाले मंडन मिश्र के नेत्र मूण्डमुण्डाए सन्न्यासी को देखकर क्रोध से लाल होगए और वे कड़ककर बोले।

"कुतो मुण्डी" ?

मुण्डी, (मूँडमुड़े) कहाँ से ?

श्लेष प्रयोग में चतुर व्याकरणविशारद शङ्कराचार्य ने उस के वाक्य का अर्थ उलट कर उत्तर दिया—

"आगलान्मुण्डी"

गले से ऊपर मुंडी (मूँड) है।

मण्डन मिश्र ने अपने वाक्य को स्पष्ट करके फिर कहा—

"मया ते पन्थाः पृच्छ्यते"

मैं तेरे मार्ग को पूछता हूं।

वाग्मि वर शङ्करने उसको फिर उलटा कर कहा—

"पन्थाः किमाह"

मार्ग ने क्या कहा ?

मण्डन ने क्रोध में भर कर कहा—

"त्वन्माता मुण्डेत्याह पन्थाः"

तेरी माता मुण्डा (विधवा) है, मार्ग ने यह कहा ?

प्रतिवादिभयङ्कर श्रीशङ्कर ने उसको यह कहकर निरुत्तर कर दिया—

"तथैवहि, त्वं पन्थानमपृच्छः, पन्थास्त्वां प्रत्याह, हे मण्डन त्वन्मातेत्यत्रायं शब्दोऽपृच्छकं मां न ब्रूयात् ।

ऐसा ही है (तेरी माता मुण्डा ही है) हे मण्डन, तू ने ही मार्ग को (से) पूछा था और मार्ग ने तुझ को ही उत्तर दिया। 'तेरी माता' ये शब्द मुझ न पूछने वाले के विषय में मार्ग नहीं कह सकता।

मण्डन ने क्रोध से उन्मत्त होकर घुड़क कर कहा—

"अहो किमु सुरा पीता" ?

क्या शराब पीली है ?

परिहासपटु (ज़िन्दादिल) शङ्कर ने श्लेष से उत्तर दिया

"सुरा श्वेता नैव पीता"

शराब तो सफेद होती है पीली नहीं।

मण्डन ने आक्षेप करके फिर पूछा—

"किं त्वं तद्वर्णं जानासि?"

क्या तू उसका रंग जानता है ?

वावदूक दण्डी ने उत्तर दिया—

"अहं वर्णमेव जानामि भवांस्तु रसमपि"

मैं तो उसका रंगही जानता हूं। किन्तु तुम शायद उसका रस भी जानते हो। (रस जानने वाला ही उसका प्रभाव जान सक्ता है)। फिर मण्डन क्रोधाग्नि से भस्म होकर गाली

देने पर उतर आया। श्रीशङ्कराचार्य ने खोटे सिक्के के समान उसकी गालियाँ उसको ही लौटा दीं और ऐसा करते हुए भी अपनी विद्वत्ता का चमत्कार दिखलाया। अगला सारा कथोपकथन भी उक्त माधवीय शङ्करदिग्विजय में पद्यों के रूप में दिया हुआ है। उस को यहाँ उद्धृत करके इस निबन्ध को बढ़ाना अभीष्ट नहीं है। इस के अतिरिक्त उसका स्वारस्य संस्कृतज्ञ ही अनुभव करसक्ते हैं, और कहीं २ वह श्रील (शोभादायक) भी नहीं है इस लिए उसका उद्धरण यहाँ उचित नहीं है।

उन दोनों को इस प्रकार कटूक्ति करते देख कर, श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मणों ने मण्डन से यह प्रिय वचन कहा कि अपने घर आए हुए अतिथिरूप देवता की पूजा गृहस्थ का धर्म है। मण्डन मिश्र ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके अर्घ्यादि से अतिथि शङ्कराचार्य की पूजा की।

आचार्य ने पूजा के अन्त में कहा कि मैं आपसे संवाद की भिक्षा माँगता हूँ। मंडन मिश्र ने सहर्ष उसको स्वीकार करके प्रतिज्ञा की कि अतिथिसत्कार और श्राद्ध के पश्चात् संवाद होगा। तदनुसार उन कर्मों से निवृत्त होकर उनका इस प्रण (शर्त) पर शास्त्रार्थ हुआ कि जो हार जाय वही दूसरे का शिष्य बनकर उसके आश्रम में (संन्यास वा गृहस्थ में) प्रवेश करे। मंडन मिश्र की धर्मपत्नी जिसका नाम भारती, सरस्वती वा विद्याधरी था, उसकी मध्यस्थ बनाई गई। कई दिनों तक, जब तक शास्त्रार्थ में दोनों पक्षों का बल बराबर रहा, तबतक भारती अभ्यागत संन्यासी को "भिक्षार्थमागच्छ" (भिक्षा के लिये आइये) कहकर और अपने स्वामी मंडन

मिश्र को "भोजनार्थमागच्छ" (भोजन के लिये पधारिये) सम्बोधन करके बुलाती रही। सातवें दिन उसने अपने पति का पराजय और संन्यासी का विजय पाकर अपने पतिको भी आचार्य के समान "स्वामिन्नेहि भिक्षायै" (स्वामी जी भिक्षा के लिये आइये) कहकर भोजनार्थ आवाहन किया। भारती के इस बदले हुए वाक्य से मंडन मिश्र ने अपना पराजय जान कर शङ्कराचार्य के चरणों में गिरकर और 'शरणं देहि' (शरण दीजिये) कहकर उनसे अद्वैततत्त्व के उपदेश प्रदान पूर्वक संन्यास दीक्षा देने की प्रार्थना की। श्रीशङ्कराचार्य ने भी उन की प्रार्थनानुसार विक्रम से ४३३ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला नवमी को मंडन मिश्र को संन्यास दीक्षा देकर उनका सुरेश्वर नाम रखा कर और उनको शुद्ध अद्वैत विद्या का भलेप्रकार उपदेश देकर माघ शुक्ला सप्तमी ४३३ वि० पू० में द्वारिका में स्थापित शारदा मठ का प्रथम आचार्य बनाया।

तदनन्तर उन्होंने कदाचारों का खन्डन तथा सदाचारों का प्रचार करते हुए और शुद्ध अद्वैत मत का प्रकाश फैलातेहुए महाराष्ट्र देश में भ्रमण किया। वहाँ ब्राह्मणों का एक संप्रदाय शिव का मल्लारि रूप कल्पना करके तथा उसके वाहन कुत्ते को सर्वश्रेष्ठ मानकर उनको पूजता था और मल्लारि की सर्व प्रधानता और उसके वाहन की वेदविहितता में वेद से "श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमः" इस यजुर्वेद की श्रुति का प्रमाण देता था, तथा सब जगत् को मल्लारि के उदरान्तर्गत मान कर अन्य सब देवों का तिरस्कार करता था। उस मतके मानने वाले कुत्ते का वेष धारण करके और गले में कौड़ियों

की माला पहनकर प्रतिदिन मल्लारि की मूर्त्ति पूजते थे। अब भी महाराष्ट्र देश में कहीं कहीं मल्लारि ग्राम देवता के रूप में पूजा जाता है। मल्लारि मत वालों ने श्रीशङ्कराचार्य से कहा "श्रुतिमूलक आचार का पालन अनिवार्य है। और हमारा आचार श्रुतिमूलक और मुक्ति देने वाला है, इसलिये आप भी शिष्यों सहित उसको ग्रहण करें। आपके धारणके लिये कौड़ियाँ हम देवेंगे"। शङ्कर ने कहा कि एक अद्वितीय, सर्व व्यापक; सर्वकारण परमात्मा ही सब का उपास्य है। मल्लारि आदि क्षुद्र देव उपासना के योग्य नहीं हैं। कुत्तों के अपवित्र और पापयोनि होने के कारण, उनको छूकर ब्राह्मणों को स्नान करना चाहिये और इसीलिये उनके वेष का चिन्ह धारण भी अयुक्त है। श्रीशङ्कराचार्य की युक्ति और प्रमाणों से पराजित होकर मल्लारि लोग अपराधियों के समान उनके चरणों पर गिर पड़े। दयार्द्र आचार्य ने उनसे "ठहरो" ऐसा कहकर अतिनिपुण, सर्वविद्यापारंगत, पद्मपाद, हस्तामलक आदि अपने शिष्यों को उनसे प्रायश्चित्त कराने की आज्ञा दी। जिस के अनुसार उन्होंने उनके सिर मुँडवा कर और उनको महानदी में स्नान आदि प्रायश्चित्त करवा कर उनको शुद्ध अद्वैत वाद का उपदेश दिया।

इस प्रकार मल्लारि मत का उन्मूलन करके आचार्य वीर विक्रम की प्राचीन राजधानी उज्जयिनी नगर को गये। वहाँ उनको "उन्मत्त भैरव" नामक एक कापालिक मिला वह सारे शरीर पर चिता की भस्म रमाये, गले में मनुष्यों के मुण्डों की माला पहिने, माथे पर काजल की रेखा लगाये, सब केशों का जटाजूट बनाये, व्याघ्र चर्म लपेटे, कौपीन धारण किये

और बांये हाथ में नरकपाल लिए हुए था। वह दांये हाथ से घंटा बजा बजा कर "शम्भु, भैरव, अहो कालीश" ये शब्द बार बार पुकार रहा था। उसने श्री शङ्कराचार्य से कहा-स्वामिन्, कापालिक मत में क्या कमी है? और मतों में क्या लाभ है? मुझको वर्णाश्रम व्यवस्था से कुछ प्रयोजन नहीं है। वह अविवेकजन्य है। ब्रह्मा से लेकर चिउंटी तक सब का देह भौतिक है, तब किसको किस वर्ण का कहा जाय। सब ही का शरीर चर्म मांसादि सात धातुओं से बना हुआ है उसमें आप लोगों ने ऊँच नीच की कल्पना कर रखी है। भैरव की आज्ञा से सब मनुष्य मातृयोनि से समान रूप से उत्पन्न होते हैं। तब उन की उच्चता वा नीचता मन्दबुद्धि भी नहीं मान सकती। इस लिये हम कोई वर्ण व जाति नहीं मानते। स्त्री और पुरुष केवल ये दो ही जातियाँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। उनमें स्त्री जाति श्रेष्ठ है, क्योंकि उसी के संयोग से आनन्द भैरव नन्दन का प्रादुर्भाव हुआ है।" उसकी प्रमाणशून्य बकवाद सुनकर श्री शङ्कराचार्य ने श्रुति, स्मृतिसे उसके मत की असारता सिद्धकी, सदाचार और वर्णाश्रम धर्म की आवश्यकता बतलाई तथा उसको अद्वैत का उपदेश देकर और उससे प्रायश्चित्त कराकर उसको शुद्ध कर लिया।

इस प्रकार दक्षिण देश में जैन बौद्ध, चार्वाक, सौगत, क्षपणक, आदि विविध वेदविरोधी मतों का खण्डन करके उनके अनुयायियों को यज्ञोपवीत धारण पूर्वक वैदिक धर्मी बनाकर श्री शङ्कराचार्य ने अपने परम गुरु के बदरिकाश्रम के दर्शनार्थ उत्तराखण्ड को प्रस्थान किया। वहाँ भी वेद विरुद्ध मतों का निराकरण करते हुए और सद्धर्म का प्रचार

करते हुए विक्रम से ४२८ वर्ष पूर्व पौष पूर्णिमा को ज्योतिर्मठ की स्थापना की और श्री तोटकाचार्य को जिनका पहिला नाम आनन्दगिरि था, उसका पहिला आचार्य बनाया ।

तदनन्तर वे दिग्विजयार्थ शिष्यों सहित पूर्व दिशाकी ओर चले और अनेक विद्यापीठों और राजधानियों की यात्रा करते हुए और वेदान्त का प्रकाश फैलाते हुए उत्कल देशमें (वर्त्तमान उड़ीसा) पहुँचे । वहाँ विक्रम से ४२७ वर्ष पूर्व वैशाख सुदि १० को पुरुषोत्तमक्षेत्र जगन्नाथपुरी में गोवर्धनमठ स्थापित करके उस के प्रधान के पद पर श्री पद्मपाद को, जिन का पहिला नाम सनन्दन था, स्थापित किया ।

तदनन्तर कामरूप (वर्त्तमान आसाम) में शाक्तमत को प्रबल पाकर उसका खण्डन करने लगे । वहाँ अभिनव-गुप्त नामक एक शाक्त ने उन से पराजित होकर उनको विष दे दिया, वा कोई कहते हैं कि उन पर अभिचार का प्रयोग किया जिस से उन को भगन्दर रोग होगया । उस भयङ्कर रोग से उन का शरीर दिनोदिन क्षीण होता गया । किन्तु कुछ आरोग्य लाभ करके ये पूर्व से दक्षिण को ओर लौटे तथा शृङ्गेरी पहुँचे और उन्होंने दक्षिण दिशा में अद्वैतवाद के प्रचार के लिए प्रस्थानत्रयी भाष्य के पठनपाठन के लिए शृङ्गेरी में विक्रम से पूर्व ४२६ वें वर्ष पौषपूर्णिमा को हस्ता-मलक के नायकत्व में शृङ्गगिरि मठ की स्थापना की ।

इस प्रकार सर्वत्र वेदों का डंका बजाते हुए; वेदविनिन्दित असार मतों का उन्मूलन करते हुए, अवैदिक मुद्राङ्कण आदि

कदाचारों का खण्डन करते हुए, तथा वैदिक सदाचार का प्रचार करते हुए, सब दिशाओं में, हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक शुद्ध अद्वैत को फैलाते हुए श्रीशंकर श्रीकामाक्षी-देवीके मन्दिरसे मण्डित प्रसिद्ध विद्यापीठ काञ्ची(आधुनिक कांजीवरम्) में पहुंचे। वहां विक्रम से ४८४ वर्ष पूर्व वैशाख पूर्णिमाको अन्तिम कामकोटि मठ की स्थापना करके अपने आप उस के आचार्य बने और सर्वज्ञ नामक अपने शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बनाया। वहां ही कुछ दिन रह कर विक्रम से ४१६ वर्ष पूर्व ३२ वर्ष की अवस्था में इस नश्वर शरीर को त्याग दिया।

कलि काल में धार्मिक सम्प्रदायों और दर्शन के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास में शङ्कराचार्य का सर्वोच्च स्थान है, और माहात्म्य, शान्ति, संयम तथा कुशाग्रबुद्धि में भी विरले ही उनकी तुलना कर सकते हैं। पापपङ्कपूर्ण कलियुग में उन्होंने ही अपने जीवन से आदित्य ब्रह्मचर्य का आदर्श स्थापित किया था। अभिनवविषयप्रवेश, पाण्डित्य, विचार-गाम्भीर्य, प्रबल तर्कणा और दार्शनिक कल्पना में उन की बुद्धि सर्वश्रेष्ठ थी। अपने समय में प्रचलित विविध सम्प्रदायों और दर्शनों के समाधान में उनके अद्वितीय कौशल और अपूर्व विचारशैली, भिन्न २ आशय के प्राचीन प्रमाणों की उनकी लगाई हुई संगति, उनकेबनाये हुए भाष्यों की स्पष्टता, सरलता, प्रगल्भ वाक्य विन्यास, सुन्दरता और अभेद्य युक्तियुक्तता को देख कर पिछले विद्वान, दार्शनिक, समालोचक और विचारक आश्चर्य चकित रह जाते हैं। 'अनेक में एक की गवेषणा' यह दर्शन का लक्ष्य सनातन से चला आया है, किन्तु इस जटिल प्रश्न

का उत्तर, दर्शन, संसार, सदाचार, धर्म, समाज और राजनीति की दृष्टि से, अद्वैत तत्व की व्याख्या करके भगवान् शङ्कराचार्य ने ही दिया है। पाश्चात्य दार्शनिक, प्लेटो से लेकर बेन तक के पाश्चात्य दर्शन को भी श्री शङ्कर के अद्वैतवाद से प्रभावित बतलाते हैं। एक बड़े विद्वान् की सम्मति है कि अद्वैतवाद ही संसार के अभीष्ट आनन्द और शान्ति की प्राप्ति का स्रोत है।

वही प्रत्येक राष्ट्र के जीवन का नियामक हो सकता है और वही सब दुखों की औषधि है। अद्वैत वाद के विषय में वैदिक धर्मावलम्बियों में बहुत मत भेद है। किन्तु इस में सन्देह नहीं है कि श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद का प्रचार करने से भारत उस समय एक ओर मिथ्याविश्वासात्मक कर्मकाण्ड के और दूसरी ओर से स्याद्वाद और जड़वाद (प्रकृतिवाद) के आक्रमणों से बच गया। अद्वैतसिद्धान्तसार्वभौम (चक्रवर्त्ती राजा ने परस्पर विवाद करते हुए अन्य सब दर्शनों को जीत कर और अपने प्रताप और एकाधिपत्य को सारे संसार में स्थापित करके अपने संस्थापक श्रीशङ्कराचार्य को जगद्गुरु का अद्वितीयगामी पद दिला दिया। किन्तु पीछे से इस अद्वैतवाद ने भारत को हानि भी बहुत पहुँचाई। सहस्रों निठल्ले, अकर्मण्य, अद्वैतवादी शुद्धाद्वैतवाद का यथार्थ आशय न समझ कर 'अहं ब्रह्म' बने हुए रातदिन भोगों के भोग में रत रहने लगे। वे संसार को मिथ्या मान कर उसकी उन्नति, सदाचार के प्रचार और राष्ट्र के अभ्युदय से कुछ प्रयोजन न रखते थे। ऐसे अहंब्रह्मास्मियों के लिए आर्यसमाज संस्थापक ऋषि दयानन्दजी का दिया हुआ नवीन

वेदान्ती पर बहुत उचित है। एक नवीन वेदान्ती ने इस लेखक से कहा था कि यदि सारा देश नष्ट होजाय तो उसको कुछ भी खेद न होगा। ऐसे लोग भगवान् शंकराचार्य वा स्वनामधन्य स्वामीरामतीर्थ के कर्मयोगात्मक शुद्धाद्वैतवाद से कोसों दूर हैं। उनको कभी ब्रह्म का ऐसा साक्षात्कार तो होता नहीं कि उन को ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर न हो और उनकी अन्तरात्मा स्वयं बोल उठे कि

"जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।"

प्रत्येक महापुरुष अपने समय के अभावों और आवश्यकताओं का पूरा करने वाला होता है। श्री शंकराचार्य ने अपने समय पर अवतीर्ण होकर अपने महाकर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन किया और भारत को अनात्मवाद, शून्यवाद, क्षणिकवाद तथा स्याद्वाद आदि गहरे गर्भों से निकाल कर सनातन वेदमार्ग का प्रकाश दिखलाया। यदि श्रीशंकराचार्य का पुण्याविर्भाव उस समय न हुआ होता तो जनता प्रभुकी कल्याणी वाणी वेदों, आर्य शास्त्रों और वैदिक वर्ण व्यवस्था का नाम भी इस समय जानती इसमें बहुत सन्देह है। हमको भगवान् शंकराचार्य के श्रेष्ठ गुणों और कर्मों का उपासक बनना चाहिए और उनकी जयन्ती के दिन उन का बारम्बार स्मरण करके उनको अपना पथप्रदर्शक बनाना उचित है।

पद्धति।

श्री शंकर जयन्ती के गृह्य तथा सामाजिक कृत्य भी श्री रामजयन्ती में लिखित विवरण के अनुसार ही हैं। उस में इतनी अधिकता और हो सकती है कि उस दिन वेदान्तदर्शन और शुद्धाद्वैत के तत्वों पर विशेष विचार किया जाय तथा उनके मूल स्रोत उपनिषदों का पारायण हो। परन्तु यह उन्हीं स्थानों पर हो सकता है जहां इस विषय के पण्डित विद्यमान हों, अनभिज्ञों को उस में हस्तक्षेप करके अनधिकार-चेष्टा न करनी चाहिए।

—o—

बुद्धदेव।

वैशाख सुदि पूर्णिमा

(१)

आज सहस्रों वर्ष हुए जब,
संकट जग में छाया था।
बुद्ध देव का जन्म हुआ तब,
करुणामृत बरसाया था॥

(२)

प्राणिमात्र का था वह बन्धु,
दयासिन्धु कहलाता था।
दुःख देखकर दारुण जग का,
हार्दिक अश्रु बहाता था॥

(३)

त्यागी राज-पाट की लीला,
किये निछावर अपने प्राण।
दिया अनाकुल मोक्ष सँदेसा,
फैलाया जग में कल्याण॥

(काङ्गड़ी गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रथम स्नातक-पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार कृत)

भारतीय साहित्य और इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वृद्ध भारत में वैदिक धर्मावलम्बी आर्योंके प्राचीन अध्यात्मवाद और कर्मकाण्डवाद प्राचीन काल से समय २ पर पहिये की पुट्ठियों के समान ऊपर नीचे घूमते रहते हैं। किसी काल में अध्यात्मवाद का प्राबल्य रहा है तो कभी कर्मकाण्ड के एकाधिपत्य का डंका बजता रहा है, अन्तिम बार जब कौरव पाण्डवीय महाभारत के पश्चात् वैदिक विशुद्ध अध्यात्मवाद का सूर्य मर्यादानिक्रान्त याज्ञिक और तान्त्रिक कर्मकाण्ड के काले मेघों में अन्तर्हित होगया था, जब "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्", "माहिंस्यात्सर्वा भूतानि", 'यजमानस्य पशून् पाहि", इत्यादि श्रुति मूलक, अहिंसाधर्ममय वैदिक युग के आरम्भ में पूर्वाचार्य और महर्षियों से संस्थापित वेदानुयायी आर्यों की प्राचीन सभ्यता ने कुटिल काल की गति से प्रभावित और परिवर्तित होकर क्रूर हिंसा का रूप धारण कर लिया था, जब कर्मकाण्ड वा रूढ़ि यज्ञों के उस युग में उत्तरीय भारत की अयोध्या, काशी, इन्द्रप्रस्थ आदि महापुरियाँ अश्वमेध आदि यज्ञों में होमे हुए पशुओं के मांस की चर्बी की चड़चड़ाहट से अनेक बार दुर्गन्धित होचुकी थीं, जब स्वर्ग लोलुप यजमान और दक्षिणार्थी याजक स्वर्ग प्राप्ति के लिए पृथ्वी को निरपराध पशुओं के रुधिर से सींचते रहते थे, धनवान् पशुयज्ञों के करने में ही अपनी धनाढ्यता और ऐश्वर्य की शोभा समझते थे, जब उच्चंमन्य, 'ब्राह्मणब्रुव" आदि जन्माभिमानी समूहों ने परमपिता के असंख्य अमृत पुत्रों को नीच और वेद की कल्याणी वाणी का अनधिकारी बना रक्खा था, तब "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय" इत्यादि ईश्वरीय व्यवस्था और

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी महापुरुष के पृथ्वी पर अवतार द्वारा आसुरी माया का निवारण और शुद्ध सनातन दयामूलक आर्य धर्म का संस्थापन अनिवार्य हो उठा था। तदनुसार उस कठोर समय में जगदुद्धारक इक्ष्वाकु, दिलीप, रघु आदि के जन्म से गौरवान्वित सूर्यवंशानगत शाक्यकुल और कपिलवस्तु नगरी में संसार को बोध देने के लिये महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ।

भूगोलज्ञ नैपाल देश का नाम जानते ही हैं। महात्मा बुद्ध के जन्म समय वर्तमान नैपाल राज्य की भूमि पर अचिरावती (वर्तमान राप्ती) और रोहिणी (वर्तमान बानगङ्गा) के मध्यवर्ती देश (दो आब) में हिमालय की उपत्यका (तराई) में छोटा कपिल वस्तु राज्य फैला हुआ था। उस समय शाक्य कुल का राजा शुद्धोदन उस राज्य का शासक था। उसकी राजधानी का भी नाम कपिलवस्तु ही था और वह रोहिणी के दाहिने किनारे पर स्थित थी। महात्मा बुद्धदेव ने महाराज शुद्धोदन की महिषी मायादेवी के उदर से वीर विक्रम के सिंहासनारोहण से १८३० वर्ष पूर्व वैशाख पूर्णिमा को जन्म ग्रहण किया था।*

---

* महात्मा बुद्ध का जन्मकाल आधुनिक ऐतिहासिकों में घोर विवाद का विषय है। पाश्चात्य ऐतिहासिक और उनके अनुयायी बुद्ध का आविर्भाव विक्रम से ५०० वर्ष पूर्व मानते हैं किन्तु इससे भारतीय पुराणों की इतिहास शृङ्खला सर्वथा छिन्न भिन्न होजाती है। बौद्ध, जैन और वेदानुयायी सारे सम्प्रदायों का एक मत है कि महात्मा बुद्ध मगध के महाराज

महात्मा बुद्धदेव का जन्मस्थान कपिलवस्तु राज्य का मध्यवर्ती लुम्बिनी कानन है, जहाँ पितृगृह को जाती हुई

अजातशत्रु के समकालीन थे। सब पुराण और कलियुगराज वृत्तान्त में दी हुई नृप वंशावली के वर्षों की गणना से महाराज अजात शत्रु विक्रम से १७५८ वर्ष पूर्व राज सिंहासन पर बैठे थे। यतः ये सब ग्रन्थ, तृतीय पाण्डव अर्जुन के पौत्र हस्तिनापुराधिपति परीक्षित् के जन्म से मगधराज महापद्मनन्द के अभिषेक तक का बीच का समय १५०० वर्ष बतलाते हैं, मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराणों में स्वल्प पाठान्तर से यह श्लोक आता है—

> महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः।
> एकं वर्षसहस्रन्तु ज्ञेयं पञ्चशतोत्तरम्॥

अर्थ—महापद्म के सिंहासनारोहण से परीक्षित के जन्म तक १५०० वर्ष समझने चाहिएँ। राजा परीक्षित का जन्म महाभारत युद्ध के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक समय हुआ था और महाभारत का समय समस्त आर्यसन्तान मात्र (हिन्दुओं) के मतानुसार, उस समय महाभारत काल की ग्रहस्थिति गणना से और प्रचलित किंवदन्ती से, कलियुग के आरम्भ से ३७ वर्ष पूर्व निश्चित ही है और वर्तमान कलियुग सबके मत में विक्रम से ३०४५ वर्ष पूर्व, चैत्र बदि प्रतिपदा को, आरम्भ हुआ था, इस प्रकार परीक्षित् ने विक्रम से ३०८२ वर्ष और कलियुगारम्भ से ३७ वर्ष पूर्व जन्म लिया था और इस गणना से महापद्मनन्द का अभिषेक विक्रम से १५८२ वर्ष पूर्व पड़ता है। मगधराज अजातशत्रु राजाओं के वंशों के वर्षों की गणना

मायादेवी ने मार्ग में ही महिमाशाली इस पुत्र को जन्म दिया था। अब उस स्थान का नाम नैपाल राज्य में भगवान्पुर ग्राम के निकट रोंदनदेवी विख्यात है और कुछ दिन हुए पुरातत्वविदों ने बड़े परिश्रम से उसको खोदकर निकाला है। वहां प्रशस्ति सहित सम्राट् अशोक का एक टूटा हुआ स्तम्भ भी मिला है।

बाल्यकाल में पितृ गृह में बुद्ध कुमार सिद्धार्थ के नाम से पुकारे जाते थे। कुमार सिद्धार्थ को उसकी माता सात दिनका छोड़कर ही चल बसी थी और उसकी विमाता महाप्रजावती ने उस को बड़े लाड़ प्यार से अपने पुत्रके समान पाला पोसा था। उसको राजकुमारोचित शिक्षा मिली थी। कुमारका स्वभाव बाल्यावस्था से ही गम्भीर शान्त और दयालु था। वह एकान्त स्थान में चुपचाप बैठा हुआ कुछ सोचता रहता था।

एक दिन शाक्य कुल के एक कुमार देवदत्त ने एक पक्षी को अपने बाण का लक्ष्य बनाया। भूमि पर गिरे हुए उस पक्षी

के अनुसार महापद्मनन्द से १७६ वर्ष पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुए थे, और भगवान् बुद्धदेव अजात शत्रु के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष ८० वर्षकी अवस्था में निर्वाणको प्राप्त हुये थे, अतः इनके निर्वाण का समय अजातशत्रु के सिंहासनारोहण काल (विक्रम से १७५८ वर्ष पूर्व) के ८ वर्ष पश्चात् विक्रमसे १७५० वर्ष पूर्व में पड़ता है और उससे भी उनकी आयु के ८० वर्ष पूर्व, विक्रम से १८३० वर्ष पूर्व उनका (महात्मा बुद्धका) जन्म समय सिद्ध होता है। इस प्रकार पाश्चात्य ऐतिहासिकों का प्रदर्शित विक्रम से ५०० वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध का जन्म समय विचार तुला पर पूरा नहीं उतरता।

को पकड़ने के लिये अन्य कुमार दौड़े। परन्तु सिद्धार्थ ने सब से पहिले पहुंच कर उस पक्षी को उठा लिया और उस के शरीर से बाण निकाल कर उसको अपने शरीर में चुभो कर यह जानना चाहा कि उससे कितनी पीड़ा होती है। पीड़ा का अनुभव करके कुमार ने पक्षीको उसके नीरोग होने तक अपने पास रक्खा और उसको अच्छा करके छोड़ दिया।

सिद्धार्थ का यथासमय यथा विधि उपनयन संस्कार हुआ और वह अपने आचार्य विश्वामित्र के गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य पूर्वक रह कर विद्याध्ययन करने लगा। उसने वेद वेदांग और क्षत्रियोचित शस्त्र विद्या का अध्ययन किया। विद्याध्ययन समाप्त होने पर सिद्धार्थ का समावर्तन संस्कार हुआ और वह बड़ी धूमधाम से पिता के घर लाया गया। लोक और शास्त्रमर्यादानुसार सुलक्षणा कन्या गोपा से उसका विवाह हुआ, परन्तु युवकों के समान न विषय भोग में उसका मन लगता था नहीं उत्सवादि उसको अच्छे लगते थे। वह सदैव चुपचाप बैठा हुआ संसार के तीन प्रकार के—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—दुःखोंसे छूटने और मृत्यु को तर कर निर्वाण प्राप्ति करनेके उपायोंको सोचा करता था। कुमार को इस प्रकार वैराग्य में लगा हुआ देख कर राजा शुद्धोदन ने उसके मनो विनोद के लिये सब ऋतुओं के सुखों से पूर्ण, कामोद्दीपक सामग्री से सुसज्जित एक सुन्दर उद्यान बनवाया और पुत्र को वधू सहित उसमें निवास दिया। वहाँ रह कर अनासक्ति पूर्वक गृहस्थ सुख भोगते हुए राजकुमार के, उस की धर्मपत्नी गोपा के उदर से, राहुल नाम पुत्र उत्पन्न हुआ। परन्तु कुमार ने परमार्थ चिन्ता को कभी नहीं त्यागा।

कुमार सिद्धार्थ रथ पर चढ़ कर परिभ्रमण के लिये नगर

से बाहर आया करता था। ऐसा करते हुए राजधानी के फाटकों पर उसकी दृष्टि बारी बारी से एक वृद्ध, रोगी, श्मशानको लेजाई जाती हुई शवकी एक रथी तथा एक परमशान्त योगी सन्यासी पर पड़ी। उनके विषय में अपने सारथीसे बात चीत करके और सब प्राणियों के, अन्त में वृद्ध, रोगी और मृत्यु का ग्रास होने का वृत्तान्त जान कर उसका वैराग्य और भी प्रदीप्त हो उठा। संन्यासी की शांतिमयी मूर्ति देख कर उसने भी संसार त्याग या प्रव्रज्या का दृढ़ संकल्प कर लिया। इस दृश्य का वर्णन बड़ा ही करुणोत्पादक और वैराग्य वर्धक है। कविवर अश्वघोष ने अपने संस्कृत के बुद्ध चरित के वैराग्य निदर्शन नामक तृतीय सर्गमें संस्कृत में, और श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी बुद्धचरित के तृतीय और चतुर्थ सर्ग में 'उद्बोधन' और 'महाभिनिष्क्रमण' शीर्षकों के नीचे हिंदी में इसका बड़ा ही हृदय द्रावक और चित्ताकर्षक वर्णन किया है। सहृदय पाठक उसका अवलोकन उक्त ग्रंथों में कर सकते हैं। उपरोक्त ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा बनारस ने सूर्य्यकुमारी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत बड़े सुन्दर रूप में प्रकाशित किया है।

इस प्रकार प्रव्रज्या का पूर्ण निश्चय करके राजकुमार सिद्धार्थ पहर भर रात्रि रहे शय्या को त्याग कर सोती हुई अपनी भार्या के पलंग के पास पहुंचा और उसने दूधके फेनों के समान श्वेत और पुष्पों के तुल्य कोमल शय्या पर निद्रा में निमग्न गोपा के पास सोते हुए अपने शिशु राहुल को देखा। कुछ देर तक टकटिकी बांध कर वह उन पर दृष्टि डालता रहा, क्षण भर के लिये उसके मन में मोह भी उदय हो आया पर वह उसको शीघ्र ही अपने वैराग्य से दबा कर और

मन में माता पिता को प्रणाम करके रणवास से बाहर चला आया और अपने कण्ठक नामक घोड़े पर चढ़कर और अपने विश्वस्त सेवक छन्दक को साथ लेकर २६ वर्ष की अवस्था में इस अनित्य संसार को त्याग कर नित्य के अन्वेषण के लिये सदा के लिए घर से निकल पड़ा। रातों रात ही सघन निर्जन वन, असीम मैदान, पर्वतों और नदियों को पार करके वह अमा नदी के किनारे पहुंच कर घोड़े से उतरा और अपने शरीर से बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को उतारकर और अश्व सहित उनको छन्दक के सपुर्द करके बोला "कण्ठक सहित इन वस्त्राभूषणों को कपिलवस्तु लेजाओ और पिता से मेरा सविनय प्रणाम करके कहो कि आप मेरे घर से चले जाने का शोक न करें। मैं बुद्धत्व प्राप्त करके कपिलवस्तु लौट कर आपके चरणों की वन्दना करूँगा"। छन्दक रोता हुआ घर लौटने की इच्छा न रखता हुआ भी कुमार के अनुरोध से राजधानी को लौट गया। उसके लौटने का स्थान एक वट वृक्ष के नीचे है। उस को छन्दक निवर्त्तक कहते हैं। चीनी यात्री फ़ाहियानने अपने पर्यटन वृत्तान्त में, विक्रमी सम्वत् ४०० में स्तंभयुक्त इस स्थान का उल्लेख किया है। छन्दक के लौट जाने पर कुमार ने स्वाधीन होकर अपने काले केश अपनी तलवार से काट डाले और मार्ग में मिले हुए किसी व्याध के धूसर वस्त्रों से अपने सुन्दर वस्त्रों को बदल लिया और वह भिक्षाटन करता हुआ "वैशाली' नगरी के मार्ग पर चल पड़ा। वैशाली में उस समय एक बड़ा पण्डित 'आराडकालाम' नामक ३०० विद्यार्थियों को शिक्षा देता था। सिद्धार्थ कुछ दिन उसके पास विद्याभ्यास करता रहा किन्तु उससे सन्तुष्ट न होकर वह "जरासन्ध' की प्राचीन राजधानी 'गिरिव्रज' उपनाम राजगृह

नगरी को चला गया और वहाँ 'रुद्रक' नामक महादार्शनिक के विद्यालय में दर्शन पढ़ने लगा। राजगृह में भिक्षा माँगते हुए उसके अङ्गों को राजलक्षणों और विशेष रूपलावण्य से युक्त देखकर नगर निवासियोंने वहाँके उस समय के राजा 'बिम्बिसार' को उसकी सूचना दी। राजा 'बिम्बिसार' ने उसको भिक्षा लेने के लिये अपने राजप्रासाद में बुलाया और उसका वैराग्यमय उपदेश सुन कर वह उसका भक्त बन गया। रुद्रक के विद्यालय में पढ़ते हुए सिद्धार्थ ने अपने सहाध्यायी ५ ब्रह्मचारियों के हृदय पर बहुत प्रभाव डाला। उनके नाम (१) कौण्डिन (२) वप (३) भद्रीय (४) महानाम और (५) अश्वजित् हैं। ये बौद्ध साहित्य में पञ्च भद्रवर्गीय ब्रह्मचारी कहलाते हैं। रुद्रक के पास से प्रस्थान समय वे भी सिद्धार्थ के साथ हो लिये। तपस्या और शरीर शुद्धि के बिना प्रज्ञालाभ को अशक्य मान कर सिद्धार्थ 'गयशीर्ष' पर्वत पर—जो अब 'गया' कहलाता है, पञ्चभद्रवर्गीय ब्रह्मचारियों सहित तपकरने लगा। वहाँ उसको 'निरञ्जना' नदी के तट पर 'उरुबिल्व' ग्राम के पास नाना वृक्षों से युक्त तपश्चर्या का उपयुक्त स्थान मिल गया। उस स्थान में उसने भिक्षाटन भी त्याग दिया, और कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत, पञ्चाग्नि सन्तपन आदि घोर तपोंसे अपने शरीर को शुष्क काष्ठ के समान अस्थिचर्मावशिष्ट बना लिया। कठोर अनशनव्रत से बिलकुल बलहीन होकर सिद्धार्थ के हृदय में इस सत्य का उदय हुआ कि शरीर शोषणमात्र से समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती। निर्बल मनुष्य बलवान् मनको कैसे वश में कर सकता है? श्रीमद्भगवद्गीता में योगिराज श्री कृष्ण ने भी इसी सत्य का प्रतिपादन किया है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु,
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ६ श्लोक १६, १७

अर्थात् न अति भोजन करने वाले को, न भोजन रहित को, न अति सोने वाले को और न अति जागने वाले को योग सिद्ध होता है॥ १॥

युक्ताहार विहार, कर्मों में युक्त, चेष्टावान् और युक्त सोने जागने वाले पुरुष को दुःख नाशक योग की सिद्धि होती है॥ २॥

उक्त निश्चय करके धर्म के प्रथम साधन शरीर की रक्षा करने के लिए सिद्धार्थ ने स्वल्पाहार और वस्त्र धारण का विचार किया और उस स्थान को त्याग कर भिक्षाचर्या के लिए चल दिये। राज गृह से आये हुए पञ्चभद्रवर्गीय ब्रह्मचारी सिद्धार्थ को अतितिक्षु और तपो भीरु समझ कर उसको वहीं छोड़कर तप करने के लिए काशी चले गये। कुछ काल में ही भिक्षा के भोजन से अपने शरीर को स्वस्थ बना कर सिद्धार्थ योगाभ्यास के अनुकूल स्थान का अन्वेषण करता हुआ निरंजना नदी के तटवर्ती एक अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष के नीचे पहुंचा और उसके नीचे बैठ कर उसने प्रसन्न चित्त से ध्यान समाधि लगाई। उसी अवस्था में उसने आषाढ़ पूर्णिमा को काम क्रोध लोभ मोह जनित विकारों को जीत कर प्रज्ञा प्राप्त की। उसकी इस प्रज्ञा प्राप्ति को बौद्ध साहित्य में 'बोधित्व लाभ' कहते हैं। इसी समय से कुमार

सिद्धार्थ का नाम 'बुद्ध' हो गया। तभी से वह 'गौतम बुद्ध' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस घटना से इस वृक्ष का नाम भी 'बोधिवृक्ष' पड़ गया। अपने प्रथम उद्देश्य 'बोधित्व' को प्राप्त करके और जीवन मुक्त होकर बुद्ध देव अपने द्वितीय उद्देश्य की सिद्धि में प्रवृत्त हुआ। धर्मोपदेश द्वारा अज्ञानियों को मोक्ष प्राप्त कराना उसका द्वितीय उद्देश्य था। बौद्ध धर्म में मोक्ष को 'निर्वाण' कहते हैं। बुद्ध देव भी सत्य सनातन धर्म के अनुसार निर्वाण प्राप्ति का ही मनुष्य का चरम पुरुषार्थ मानते थे।

मोक्ष के साधनों में सनातन से भेद चला आता है। परन्तु मुख्य सिद्धान्त 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं मिलती इस पर सब एक मत हैं। स्वधर्म संस्थापन के लिए बुद्ध देव ने सब से पहिले भारत की प्राचीनतम धर्म-राजधानी और विद्यापीठ 'काशी' की यात्रा की और काशी के समीपस्थ 'मृगदावबन' में, जो अब 'सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध है, तप करते हुए 'गया' में उस को पूर्व छोड़ आए हुये पञ्चभद्रवर्गीय ब्रह्मचारियों से भेंट करके उनको अपने धर्म की दीक्षा दी, यहीं उसने अपना प्रथम धर्मोपदेश प्रारम्भ किया। बौद्ध धर्म के इतिहास में यह घटना 'धर्म चक्र प्रवर्तन' कहलाती है। पीछे बौद्ध धर्मानुयायी सम्राट् 'अशोक' और अन्य राजा महाराजों ने इस स्थान का चिरस्मरण बनाए रखने के लिए वहां बड़े २ विशाल विहार और प्रासाद बनवाए। वे काल की कुटिल गति से साम्प्रदायिक विप्लवों में टूट फूट कर भूमि में दब गये थे। अब गौराङ्ग पुरातत्त्वविदों के परिश्रम से वे बहुतसी प्रतिमाओं और अन्य प्राचीन पदार्थों के साथ भूमिमें से खोदकर निकाले गये हैं और एक अद्भुतालय (Museum) में वहां रख दिये गये हैं। इनमें एक

अशोकस्तम्भ, जिसके शिखर पर चारों ओर व्याघ्र मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं, अतीव दर्शनीय है। यह शिखर और भग्न स्तम्भ-खंड भी भूमि में से दबे हुए निकले थे और वहीं धरे हैं, यह स्थान बौद्धों का तीर्थ है। लंका, चीन, ब्रह्मा आदि से सैकड़ों बौद्ध यात्री उसके दर्शन के लिए वहाँ आते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास का गौरव रखने वाले काशी के प्रत्येक यात्री का कर्त्तव्य है कि वह 'सारनाथ' के दर्शन से भी अपने नेत्रों को कृतार्थ करे।

काशी में और भी बहुत से समृद्ध पुरुषों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। बुद्ध देवने धर्म प्रचार के लिए इन सब शिष्यों का एक संघ बनाया। इस प्रकार बौद्ध धर्म के तीन प्रधान अंग 'बुद्ध' 'धर्म' और 'संघ' माने जाने लगे, जो उसके "रत्नत्रय" कहलाते हैं। प्रत्येक बौद्ध

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धर्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

का पाठ नित्य करता है।

शिष्यों को धर्म प्रचार की आज्ञा देकर बुद्ध देव अपने पूर्व भक्त महाराज 'बिम्बिसार' के पास राजधानी 'राजगृह' में पुनः आए। बिम्बिसार ने भी उनके मत को ग्रहण किया। उस का अनुकरण करके उसकी सहस्रों प्रजाओं ने भी बौद्ध मत अंगीकार किया। बुद्ध देव मगध में धर्म का प्रचार करके कपिलवस्तु पहुँचे। उन को अपने देश में आया हुआ सुन कर, उनके दर्शन के लिए सहस्रों मनुष्य एकत्र होगये। महाराज शुद्धोदन चिरकाल पश्चात् अपने पुत्र का मुख देख कर बहुत प्रसन्न हुए। बुद्ध देवने पिता की राजधानी में

आकर भी राज भवन में प्रवेश नहीं किया, किन्तु नगर से बाहर पिता के बनवाये हुए मठ में निवास करके भिक्षा से जीवन निर्वाह करते रहे। कपिलवस्तु में रहते हुए बुद्ध देव ने अपनी पत्नी, पुत्र, बन्धु और अन्य बहुत से अपनी जाति के नगर निवासियों को अपने धर्म में दीक्षित किया।

बुद्ध देव वर्ष के आठ मास इधर उधर विशेषतः मगध और कपिल वस्तु राज्योंमें धर्म प्रचार करते हुए भ्रमण किया करते थे, किन्तु वर्षा ऋतु के चार मासों में किसी विहार (बौद्धमठ) में ठहर कर संघों और समागत श्रोताओं से ज्ञान चर्चा में लगे रहते थे।

इस प्रकार राजगृह आदि नाना प्रसिद्ध स्थानों में रह कर धर्म चर्चा करते हुए बुद्धदेव ने ४५ चातुर्मास्य बिताए। बुद्ध के जीवन चरितों में इन चातुर्मास्यों का क्रमानुसार सविस्तर वर्णन है।

एवं ४५ वर्षों तक सतत धर्म प्रचार करके विक्रम संवत् से १७५० वर्ष पूर्व ७६ वर्ष की अवस्था में बुद्ध देव कुशीनगर में जो आधुनिक 'गोरखपुर' ज़िले में कसियाग्राम के निकट था, एक साल के वृक्ष के नीचे उदर-रोग से "महानिर्वाण" को प्राप्त हुए। राजनगर से शिष्यों सहित कुशीनगर जाते हुए, जब मार्ग में अकस्मात् ही उनके उदर में पीड़ा होने लगी, तो उन्होंने उस रोग को असाध्य समझ कर अपने शिष्यों को आगे जाने से रोक दिया। शिष्यों ने गुरुदेव को एक साल-वृक्ष के नीचे शय्या पर लेटा कर उनकी यथोचित सेवा की। किन्तु उनका शरीर नीरोग न हुआ और शनैः २ निर्बल होता गया। बुद्धदेव ने अन्त समय में शिष्यों को बुला कर यह उपदेश दिया—

(१) पुत्रों इन्द्रियों को अपने वश में रखो, जितेन्द्रियता से तुम शीघ्र ही निर्वाण राज्य में प्रवेश पा सकोगे।

(२) भिक्षुओं, तुम अपने आप को प्रबुद्ध करो अपनी परीक्षा आप करो। इस प्रकार सावधानता और कर्त्तव्य परायणता पूर्वक रहते हुए तुम को सदा सुख प्राप्त होगा। पापों से सदैव दूर रह कर सत्कर्म में रत रहो, तथा दूसरों के हृदय को भी शुद्ध करो।

(३) जैसे जल की कीचड़ जल ही से धोई जाती है, वैसे मन का पाप मन से ही नष्ट होता है।

(४) मनसा वाचा कर्मणा शुद्ध मनुष्य को सुख और शान्ति शरीर की छाया के समान कभी नहीं त्यागते।

अपने शिष्यों को इस प्रकार उपदेश देकर बुद्धदेव की आत्मा ने योग से शरीर को त्याग दिया। शिष्यों ने चन्दन की चिता बना कर उस पर गुरुदेव का शरीर रखकर, ३ बार परिक्रमा करके महाकाश्यप की अनुमति लेकर, उस को अग्नि के सपुर्द किया। जिस ने राजकुल में जन्म लेकर भी बोध-प्राप्ति के लिए राज्य, प्रतिष्ठा और सांसारिक ऐश्वर्य को तृणवत् समझा, उस का महामहिम शरीर भस्म में परिणत होगया। भिक्षुओं ने उस भस्म को सुवर्ण पात्रों में रख कर राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, रामग्राम, अलका उष्पद्वीप, पावा ले जाकर और स्वयं कुशी नगर में भी भूमिस्थ करके उस पर उपर्युक्त सब स्थानों में चैत्य बनवाए।

बुद्धदेव ने प्रतिष्ठित राजवंश का भूषण होकर भी एक वृक्ष के नीचे ही माता के गर्भ से जन्म लिया और वृक्ष के नीचे ही तप किया, वृक्ष के नीचे ही बोध प्राप्त किया और वृक्ष के नीचे ही शरीर त्याग किया। वे बाल्यावस्था से लेकर निर्वाणप्राप्ति

पर्यन्त आप स्वयं पितृ भक्त, वैरागी, अतुल राज्य ऐश्वर्य का त्यागी, तपस्वी, निस्वार्थ, परोपकारव्रती और सद्‌गुणों के रक्षक बन कर मनुष्यों को मुक्ति दिलाने का यत्न करते रहे। उन्होंने प्राचीन आर्य धर्म शास्त्रों के अनुसार ही गृहस्थों के लिए दशलक्षणात्मक धर्म की शिक्षा दी है। वे सदाचार, प्रियभाषण, अहिंसा और अप्रमाद पर विशेष बल देते थे। उन्होंने सत्य और सदाचार का पद पद पर उपदेश किया है। यथा—

बाहु सत्यंच शिल्पञ्च विनयश्च सुशिक्षितः।
सुभाषितञ्च यद्वाचा एतन्मङ्गलमुत्तमम् ॥१॥
अरतिर्विरतिः पापान्मद्यपानाच्च संयमः।
अप्रमादश्च धर्मेषु एतन्मङ्गलमुत्तमम् ॥२॥
क्षान्तिश्च सुवर्चस्त्वं श्रमणानाञ्च दर्शनम्।
कालेन धर्मश्रवण मेतन्मङ्गलमुत्तमम् ॥३॥
तपश्च ब्रह्मचर्यंश्च, आर्यसत्यानुसेवनम्।
निर्वाण साक्षात्कारश्च, एतन्मङ्गलमुत्तमम् ॥४॥

(पाली का संस्कृत रूपान्तर)

भावार्थ—हाथ की सचाई, कारीगरी, विनय, सुशिक्षा और प्रियवचन ये उत्तम मङ्गल हैं॥ १॥ पाप से अरति (लगावट का न होना) और विरति (विरक्ति), मद्यपान का संयम (रोक) और धर्माचरण में अप्रमाद (सावधानता) ये उत्तम मंगल है ॥२॥ क्षमा, सुवर्चस्त्व (ब्रह्म तेज), साधुओं का दर्शन और समय पर धर्म का श्रवण ये उत्तम कार्य हैं ॥ ३ ॥ तप, ब्रह्मचर्य आर्य सत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल हैं ॥ ४ ॥

उस समय बौद्ध धर्म का प्रभाव इतना बढ़ा कि अन्य सब धर्म उस के आगे फीके पड़ गये थे। आज बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुए पौने तीन सहस्र वर्ष बीत गये, किन्तु अब भी संसार में करोड़ों मनुष्य उन के धर्मानुयायी हैं।

मगधराज सम्राट् प्रियदर्शी * अशोक तथा महाराज कनिष्क + के महोद्योगसे बौद्ध धर्म समस्त एशिया महाद्वीप में फैलगया था। सम्राट् अशोक ६४००० बौद्ध धर्म प्रचारक भिक्षुओं का अन्नादि द्वारा पालन करते थे। उन्होंने ८४००० स्तूप बनवा कर बौद्धधर्म की महिमा को सर्वत्र फैलाया था और प्रस्तर स्तम्भों और शिलाओं पर समस्त भारतवर्ष तथा काबुल आदि देशोंमें ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियोंमें उस समय प्रचलित पाली भाषा में बौद्ध धर्म की असंख्य प्रशस्तियां बौद्धधर्म के प्रचार के लिए खुदवाई थी। इन प्रशस्तियोंको काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के संपादकत्व में

---

* इतिहास में अनेक अशोकों का वर्णन आता है। बौद्ध धर्म का प्रचारक प्रियदर्शी अशोक उन में से कौन था तथा वह कहां का राजा था, यह विवादास्पद है। कोई कल्हणकृत राजतरंगिणी में वर्णित प्रथम गोनन्द वंशावतंस धर्माशोक को बौद्ध धर्म का प्रचारक बतलाते हैं।

+ महाराजा कनिष्क का समय भी बड़े विवाद का विषय है। श्री कल्हणकृत राजतरंगिणी में वर्णित काश्मीर राजवंशावली के अनुसार १२०५ वि० संवत् में वर्त्तमान कल्हण से महाराज कनिष्क के अभिषेक के समयतक २३६२ वर्ष होते हैं। इस से महाराजा कनिष्क का समय विक्रम से ११५७ वर्ष पूर्व आता है किन्तु पाश्चात्य ऐतिहासिकों के मतानुसार उस का समय १२५ वि० पूर्व है।

संग्रह करके और संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद से समलंकृत करके पुस्तक रूपेण प्रकाशित करा दिया है। अशोक ने निम्नलिखित पाँच उपायों से बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।

(१) धर्म के मत भेदों का विचार करने के लिए धर्म परिषत् स्थापित की थी।

(२) अनुशासन पत्रों द्वारा धर्म नीति की व्याख्या कराई थी।

(३) धर्म की शृङ्खला स्थिर रखने के लिए राजकीय धर्म विभाग की स्थापना की थी।

(४) दूर देशों में प्रचारक भेज कर बौद्ध धर्म का प्रचार कराया था।

(५) अपने प्रबन्ध और निरीक्षण में विद्वान बौद्ध भिक्षुकों द्वारा बौद्ध-ग्रन्थों का संशोधन कराया था।

अशोक के शासन काल में ही लंकाद्वीप में बौद्ध धर्म फैल गया था। ६६५ विक्रमी में श्याम निवासियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इस से कुछ ही पहले बौद्ध प्रचारकों ने जावा आकर वहाँ बौद्ध धर्म की वैजयन्ती उड़ाई थी। शनैः २ बौद्ध प्रचारक तिब्बत, मध्य एशिया के दक्षिणी भाग और चीन में भी पहुंच गये। ४२६ विक्रमी में कोरियावासियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया।

६०६ वि० में कोरिया के बौद्ध धर्म प्रचारकों ने जापान आकर जापानियों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। किन्हीं का मत है कि योरप महाद्वीपमें सिकन्दरिया, पैलेस्टाइन, यूनान और रोम में बौद्ध धर्म की दुन्दुभि बजीथी। अब भी सब संसारमें

बौद्ध धर्मानुयायियोंकी संख्या अन्यसब मतवालोंसे अधिक है। किन्तु आज कल के बौद्ध धर्म और आदि के बौद्ध धर्ममें बहुत अन्तर आगया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' इस मूल मन्त्र को लेकर चले हुए बौद्ध धर्म के अनुयायी आज कल सब जन्तुओं का मांस खाते हैं, यह काल चक्रकी कैसी कुटिल गति है। वस्तुतः जिस प्रकार गंगोत्तरी का विशुद्ध जल गंगा सागर में आकर मलिन और दूषित होजाता है, उसी प्रकार संसार के सभी धर्म सुदीर्घ समय बीतने पर अपने प्राचीन स्वरूप को बिलकुल बदल देते हैं। इससे बौद्ध धर्म की ही कोई विशेष हीनता नहीं है। इतिहास अपने आप को सर्वत्र दोहराता है।

यदि भारत भूमि में भगवान् बुद्ध का आविर्भाव न हुआ होता, तो सभ्य संसार की दृष्टि में हम आज सभ्य लोगों की सन्तान कहला सकते वा नहीं इसमें भी सन्देह है। आज कल के ऐतिहासिक लोग रामायण और महाभारत के काल को इतिहास पूर्ववर्ती काल कहते हैं। उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक काल वही है, जिसके विषय में शिलालेख आदि के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हों। रामायण व महाभारत कालके अभी तक कोई शिलालेख आदि नहीं मिले हैं, जिनके आधार पर उन युगों का इतिहास लिपिबद्ध होकर उन को ऐतिहासिक काल के अन्दर माना जासके। किन्तु बुद्ध भगवान् के पवित्र चरित्र और उपदेश का जो प्रभाव हमारे देश पर पड़ा था, उसके कारण हमें प्रतिदिन उपर्युक्त प्रकारकी सामग्री प्रचुर परिमाण में प्राप्त होरही है कि उसके सहारे भारत का बौद्ध कालीन प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जाचुका है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सभ्यताभिमानी पाश्चात्य प्रभुओं को भारत की बौद्ध कालीन उच्च सभ्यता के सामने सिर झुकाना पड़ रहा

है—इसका सारा श्रेय भगवान् बुद्ध को ही है। अत एव हम भारतवासियों का क्या यह परम कर्तव्य नहीं है कि हम भगवान् बुद्धको अपनावें और उनका स्मरण करके अपनी कृतज्ञता का पूरा परिचय दें। प्रसन्नताकी बात है कि अब कुछ शिक्षित भारतीय सज्जनों में से सांप्रदायिक पक्षपात दूर होकर ऐसे औदार्य का उदय होरहा है कि जिससे वे अपने राष्ट्रके गौरवरूप महापुरुषों के प्रति पूर्ण प्रतिष्ठा के भाव प्रदर्शित करने लगे हैं। फ़रवरी सन् १९११ के मॉडर्न रिव्यू (Modern Review) कलकत्ता में एक मुसलमान महाशय स० म० खुदाबख्श ने अमेरिका से एक लेख लिखकर भारतमें बुद्धदेव की जयन्ती मनाने और उनके स्मरणार्थ कोई मेला प्रचलित करनेका प्रस्ताव किया था, किन्तु उस समय उस पर किन्हीं पत्र पत्रिकाओं में कुछ टीकाटिप्पणी होने के अतिरिक्त कुछ भी कार्य न हुआ। अब सब सुधारों के अग्रगन्ता आर्यसमाज के ही भाग में यह कर्तव्य भी आता है कि वह भारत में बुद्ध जयन्ती के पर्व का प्रचार करे। आर्यसामाजिक पुरुषोंको यह नहीं भूलना चाहिए कि भगवान् बुद्धदेव ने संसारके प्रायः सभी देशों चीन, जापान, जावा, लंका, अमेरिका, मिश्र, यूनान, पैलेस्टाइन, आदि—में भारत के दयामूलक धर्म की पताका फहराई थी, इसलिये, रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी के समान बुद्ध जयन्ती वा बुद्ध पूर्णिमा का पर्व भी समारोह मनाया जाना चाहिए।

पद्धति।

श्री बुद्ध जयन्ती के गृह्य तथा सामाजिक कृत्य भी श्रीरामजयन्ती में लिखित विवरण के समान ही होने चाहिएँ।

श्रीबुद्धदेव-दर्शन ॥

यह करो आर्य वर बुद्ध-देव-प्रिय-दर्शन ।
स्वर्गीय-कान्ति पूरित, प्रशान्त मन-हर्षन ॥ १ ॥
ध्यानस्थ मूर्त्ति, अध्यात्म—वृत्ति—उत्कर्षन ।
निर्वाण-अमृत—आनन्द—ज्ञान-रस वर्षन ॥ २ ॥
जय जगत-अविद्या-अन्धकार- दुखहारी ।
जय दीनों के दीनता—विमोचन कारी ॥ ३ ॥
जग-तत्व-ज्ञान-लाभार्थ- राज्य-सुख-त्यागी ।
सुख-दुःख अनुक्रम-अन्वेषण—अनुरागी ॥ ४ ॥
जय सुर-नर-नाग-सुगार-सुकृत अभिवन्दन ।
जय मायादेवा—शुद्धोदन—नृप—नन्दन ॥ ५ ॥
जय राजवंश—इक्ष्वाकु—अलंकृत—कारी ।
जय बोधिसत्व, सर्वार्थसिद्ध—पदधारी ॥ ६ ॥
तुमने इस जग की वास्तवता को जाना ।
स्वभा—प्रपंच का प्रकृत रूप पहचाना ॥ ७ ॥
ईश्वर की ईश्वरता का अर्थ अनुमाना ।
सब विश्व मात्र को प्रेम—पात्र निज जाना ॥ ८ ॥
पुरुषार्थ परम एक पर—उपकार बखाना ।
त्यों परम पाप, पर पीड़न ही को माना ॥ ९ ॥
जय जय जननी वह जिसने तुम को जाया ।
बड़—भागिनी श्री महारानी देवी माया ॥ १० ॥
वह धन्य, जिन्होंने तुम को गोद खिलाया ।
प्यारा शिशु कोमल-मात परस सुख पाया ॥ ११ ॥
धन्य धन्य पुण्यमय भारत की यह धरनी ।
धन धन भारत-सन्तान, धन्य शुभ करनी ॥ १२ ॥
सब जग का जिसने जीवन धन्य बनाया ।
सत—विद्या का सुख-प्रद प्रकाश फैलाया ॥ १३ ॥

(कविवर पं० श्रीधर पाठक कृत)

गंगावतरण।

(दशहरा)

ज्येष्ठ सुदि दशमी

तरु गुल्म-लतायें हिलाति हुई,
कल-नाद-पियूष पिलाति हुई।
मन की कलियों को खिलाति हुई,
*रवप्रवर्तक कीर्त्ति गवाति हुई॥
सुख-शान्ति के आगम के मुद मे,
हमें मुग्ध बना लहराति हुई।
बहती क्या भगीरथि आज भी तू,
हमें भीर में धीर धराति हुई॥

(कविवर श्री पं० लोचनप्रसाद पाण्डेयकृत)

किसी देश विशेषका उत्कर्ष उसमें उत्पन्न अनेक गुण मण्डित महापुरुषों के साथ साथ उस के नयनाभिराम विशाल गिरि काननों तथा स्वच्छ सुन्दर सरसरिताओं पर भी निर्भर है। भारत की भव्यता और महिमा, जहाँ उस के मन्त्रद्रष्टा जगत् के आदि गुरु विविध विद्याओं के आविष्कारक ऋषि मुनियों, अतुल बलशाली शरणागत वत्सल शूरवीर क्षत्रियों तथा अक्षय

* रवप्रवर्तक = महाराज भगीरथ।

सम्पत्तिमान् वैश्यों ने बढ़ाई है, वहाँ शश्वत-हिमधारी मनोज्ञ पर्वतराज हिमालय, गुणकारी विविध औषधियों और बहुमूल्य वनस्पतियों के वन, मनोहर मानसरोवर और शुभ्रसलिला सुरसरिता भी उस की अनुपम असीम शोभा और अद्वितीय दिव्यता के कम कारण नहीं हैं। इस समय अगणितगुणगरिष्ठा गंगामाता और उसका पुण्यक्षेत्र आर्यावर्त में अवतरण वा आगमन ही इन पंक्तियों का विषय है।

यूँ तो विस्तृत भारतवर्ष में बहुत सी विपुल जल-धरा सततप्रवाहा नदियाँ विद्यमान हैं, पर गंगा माता की गुणगरिमा और महिमा उन से कोसों दूर है। माता का महामहिम पद गङ्गा के लिए ही व्यवहृत है और सुरसरिता वा देवधुनी भी वही कहलाती है। यह बात बड़े हेतुओं के बिना नहीं है। वैसे तो अन्य देशों के निवासी भी अपने उपकारी जलथल आदि पदार्थों में अपने पालक पोषक सम्बन्धियों का आरोप उपचार वा लक्षणा वृत्ति से करते हैं। अरब निवासी अपने सर्वोपकारक खजूर तरुको फूफीजान कहते हैं। अंग्रेज़ Thames नदी को Father Thames वा पिता टेम्स कह कर आदर देते हैं। पर माताका सर्वातिशायी मानास्पद पद गङ्गा के लिए ही प्रयुक्त है। माता सन्तान का जो लालन पालन करती है, सुतों में उसका जो असीम स्नेह होता है, वह दूसरे सम्बन्धियों से अशक्य और दुर्लभ है। उसीप्रकार गङ्गाके अगण्यगुणगणसमन्वित सलिलसे गङ्गा-तीर-निवासी जनों का जैसा लालन, पालन और स्वास्थ्य संपादन होता है, वैसा अन्य जलाशयों से कदापि संभव नहीं है अतः गङ्गा में मातृत्व का आरोप सर्वथा समुचित और युक्तियुक्त है। मातृकृत लालन पालन के मुख्य गुणोंको लेकर कविताकी भूमि भारत में पौराणिक षडानन

सेनानी की ६ माताओं के समान ६ देवियाँ (दिव्यगुण-युक्त स्त्रीलिंग पदार्थ) माता (माता = मा धातु से (मान्यते पूज्यते इति माता) सर्वोच्च मान की अधिकारिणी) मानी जाती हैं। उन में से प्रथम इस पार्थिव शरीर को ९ मास उदर में रख कर इस पृथिवी पर जन्म देने वाली जननी है।

दूसरी मनोगत भावों के यातायात की वाहन वाणी वा मातृभाषा है।

तीसरी प्रज्ञा वा मेधा की कविकल्पनानिर्मित मूर्ति वाग्देवी वा सरस्वती है। भाषा, वाणी वाग्देवी वा सरस्वती का एक रूप भी माना जाता है और कभी कभी भाषामाता वा सरस्वती माता का स्वरूप पृथक् पृथक् समझा जाता है।

चौथी अपने अमृतोपम और स्वास्थ्यप्रद दूध से मनुष्य मात्र का पालन करने वाली उस से नाना प्रकार के स्वादु मिष्टान्न और व्यञ्जन देनेवाली तथा अपनी सन्तान बैलों द्वारा भारत की एकावलम्ब खेती से सब की अन्नदात्री गोमाता है।

पाँचवीं अपने कणों से हमारे पार्थिव शरीरों की निर्माता और अपने उदर से उत्पन्न उद्भिज्जों द्वारा हमारी परिपोषिका जन्मभूमि (पृथिवी) है।

छठी गंगामाता का वर्णन हो ही रहा है।

गंगा जल में अद्वितीय दिव्यगुणों की विद्यमानता से गंगा का देवधुनी वा देवनदी नाम सार्थक ही है।

किसी पदार्थ के वास्तविक मूल्य का अनुभव उसके अभाव में ही भले प्रकार होता है। गंगामाता के मूल्य वा महिमा की अनुभूति के लिये हम को अपने आपको क्षण-मात्र के लिए उस

युगमें ले जाना चाहिए, जब इस देशमें रविकुल कमल दिवाकर भगीरथ द्वारा गंगाका लोककल्याणकारक अवतरण न हुआ था। उस समय सहस्रांशु के उग्र उत्ताप से इस स्वल्पसलिल उष्णक्षेत्र आर्यावर्त की क्या दशा होगी, इसके विचार मात्र से ही मनमें संताप उत्पन्न होता है। उस काल में जहाँ इस अत्युष्ण देशके प्राणिमात्र ग्रीष्म की गरमी में दुर्लभ जल के बिना व्याकुल रहते होंगे, वहाँ यातायात के लिए सुलभ जलमार्ग के अभाव से यहाँ का व्यापार भी बहुत ही मन्ददशामें होगा। तब गंगातटवर्ती साम्प्रतिक हरिद्वार आदि प्रयाग तकके सुन्दर नगरों का भी अस्तित्व न होगा। आज कल गंगा के तीरवर्ती हरित शाद्वलों की सहस्रों बीघे भूमि जो गोचारण का उपयोग देती है, उस समय उसकी अविद्यमानता में गोधनकी भी यहाँ बहुत न्यूनता होगी और घी दूध भी इस प्रचुर राशि में प्राप्त न होते होंगे जो गंगा यमुना के मध्यवर्ती अन्तर्वेद (दुआबा) देशकी विशेषता है। अपनी प्रजा की इसी पीड़ा परंपरा पर दृक्पात करके प्रजावत्सल परोपकार-परायण उत्तरकोसलेश्वर महाराज भगीरथ इस उष्ण तथा प्रतप्त प्रदेश में गंगामाता का अवतरण कराने पर उतारू हुए थे।

महाराज भगीरथ द्वारा गंगावतरण की कथा भी पुराणों में अलौकिकता और अद्भुत रस के रंग से अतिरंजित हो कर वर्णित है। पौराणिक कथाका सारांश यह है—

महाराज भगीरथ के वृद्ध प्रपितामह अयोध्या नरेश महाराज सगर ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करके उस का अश्व स्व साठसहस्र पुत्रों की संरक्षा में स्वतंत्र विचरने के लिए छोड़ा। परन्तु परयशोऽसहिष्णु स्वपदापहारभीरु मखद्वेषी इन्द्र ने

इस अश्व को चुरा कर समाधि-निमग्न महामुनि कपिल के पास ले जा कर बाँध दिया। ६० सहस्र राजपुत्र उस का अन्वेषण करते हुए वहाँ पहुँच कर चोर चोर कह कर कपिल की भर्त्सना करने लगे, जिस से भड़क कर उन्हों ने उन को अपने अभिशाप से भस्म कर डाला। फिर महाराज सगर के पौत्र अंशुमान् के वहाँ आ कर अनुनय विनय करने पर उन्होंने दयापूर्वक अपने अभिशाप को इस प्रकार मृदु बना दिया कि हिमालय से गंगा को ला कर उस के पुण्य प्रवाह से दग्धीभूत ६० सहस्र राज पुत्रों की भस्मी प्लुत होने पर उन को परमपद(मोक्ष)कीप्राप्ति होगी। तदनुसार अंशुमान् ने गंगा को हिमालय से लाने के लिए वर्षों ब्रह्मा और महादेव की प्रसन्नतार्थ तपस्या की, पर वे गंगा को लाने में सफल न हुए। तदनन्तर अंशुमान् के पुत्र महाराज दिलीप भी तदर्थ तपस्या करते रहे, पर उन का भी मनोरथ पूरा न हुआ। उस के पश्चात् दिलीप के पुत्र महाराज भगीरथ ने घोर तपस्या करके ब्रह्मा जी और कैलाशाधिपति महादेव को सन्तुष्ट किया। अपने वर-दान से श्री महादेव जी ने व्योमविहारिणी गंगा को अपने जटाजूट में धारण कर के उसको महाराज भगीरथ के रथ के पीछे २ मर्त्यलोक में जाने की अनुमति दे दी। गंगा जी भगीरथ द्वारा इस लोक में लाई गईं। हाँ मार्गमें इतनी रोक आपड़ीथी कि तपस्या करतेहुए जन्हु ऋषि ने उनको अपने पास पहुंचने पर पीलिया था, पर देवताओं के प्रार्थना करने पर उसको अपने कर्णकुहर से बाहर निकाल दिया। गंगा के प्रवाह को ले जाकर चन्द्रवंशियों की पुरानी राजधानी प्रतिष्ठा-नपुर (वर्तमान झूँसी) के पास यमुना नदीमें मिला दिया गया और इस समय से उसका नाम प्रयागराज पड़ गया। हिमा-लय से आती हुई गंगा का बीच में और भी कई नदियों के

संगम हुआ था। जहाँ गङ्गा अलकनन्दा से सङ्गत हुई है उसका नाम देवप्रयाग है।

महाराज भगीरथ के द्वारा गंगा का अवतरण होने के कारण गंगा का नाम भागीरथी विख्यात होगया और जन्हु के देहसे पुनः निःसृत होनेके कारण वह जान्हवी भी कहलाने लगी।

अब इस पौराणिक कथा के अलौकिक अंश को विलगा कर यदि लौकिक और ऐतिहासिक भाग पृथक् किया जाय तो उसका सार केवल इतना ही है कि महाराज भगीरथ से पूर्व गंगा का स्रोत श्रीमहादेव जी के अधिकृत था राज्य हिमालय प्रदेश में विद्यमान था। महाराज भगीरथ अपनी उष्णतासंतप्त प्रजाओं के कल्याणार्थ श्रीमहादेव जी की आराधना करके और उनसे अनुमति लेकर उसकी कुल्या (नहर) काटा कर उसको अपने उत्तर कोसल राज्य में लाए थे। यही वर्णन आदि में पुराण आदि ग्रन्थों में आलङ्कारिक भाषा में लिखा गया होगा, जिसने समय पाकर वर्तमान अलौकिक रूप का धारण कर लिया। अलङ्कारों का विश्लेषण भी सुगमता से हो सकता है। केवल उस पर से अलौकिकता का आवरण हटा कर उसको मानवी और ऐतिहासिक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है। अनुमान प्रमाण के प्रयोग से प्रतीत होता है कि महाराज सगर का अश्वमेध गंगानयन उद्योग रूप एक परोपकार यज्ञ था। देवपूजा-संगतिकरण—दानार्थक यज धातु से निष्पन्न यज्ञ का वाच्य (अर्थ) बड़ा विस्तृत है और उसमें परोपकार भी अन्तर्गत है। अश् व्याप्तौ धातु से व्युत्पन्न अश्व के यौगिक अर्थ से भूमिति के किसी यन्त्र का नाम भी अश्व हो सकता है। इस प्रकार गंगानयन परोपकार कर्म में भूमापक किसी यन्त्र विशेष का प्रयोग होने के कारण वह अश्वमेध

कहलाया। मेधृ संगमे धातु से जिस कर्म में अश्व (किसी यन्त्र वा कला विशेष) का संगमन हो वह अश्वमेध कहला सकता है। तदनुसार राजा सगर के अश्वमेध की व्युत्पत्ति संस्कृत में इस प्रकार हो सकती है—

अश्नुते व्याप्नोति भूमिं स्वमानेन मापकशक्त्या वेत्यश्वो भूमापकयन्त्रविशेषः, स मेध्यते= संगम्यते= ऽयुज्यते यत्र सोऽश्वमेधः। गंगायाः प्रवाह प्रवर्तनेन प्रजानां शर्माणि कल्याणानि यजन्ते संगतिं कुर्वन्ति यत्र स यज्ञः गङ्गाप्रवाहप्रवर्त्तन-परोपकाररूपः । अश्वनामभूमापकयन्त्रसंगमनरूपाश्वमेध-श्चासौ गङ्गाप्रवाहप्रवर्त्तनरूपयज्ञोऽश्वमेधयज्ञः, न तु घोटकापर-नामपशुविशेषाश्वस्याग्नौ हवनमश्वमेधयज्ञः, "मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि" "यजमानस्य पशून् पाहि" इत्यादिश्रुतिविरुद्ध-त्वात्, मांसभक्षकवाममार्गिणां कलौ तत्प्रवर्तितत्वात्।

ज्ञात होता है कि गङ्गा के प्रवाह की कुल्या (नहर) निका-लने के लिये महाराज सगर ने बहु संख्यक (यहाँ ६० सहस्र राजपुत्र असंख्यक वा बहु संख्यक का उपलक्षण मात्र है, जिस प्रकार यजुर्वेद के "सहस्रशीर्षा: पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" इस मन्त्र में सहस्र असंख्य का उपलक्षण है । इस बात का निर्देश पंडितप्रवर श्री महीधर ने यजुर्वेद पर अपने वेदप्रदीप नामक भाष्य में भी किया है।) राजपुत्रों की संरक्षा में अश्व नामक Theodolite वा level (थियोडोलाइट वा लेवल) आदि के प्रकार के किसी भूमापक यन्त्र विशेष का धरातल की समता और माप आदि के ज्ञान के लिये परिभ्रमण कराया था।

राजपुत्र शब्द भी यहाँ राजन्य वा क्षत्रिय का उपलक्षण प्रतीत होता है क्योंकि राजा के आश्रय में रह कर उस से

पालित पोषित कर्मचारिवर्ग भी उस के पुत्र ही कहलाते हैं, अन्यथा किसी एक राजा के ६० सहस्र के समान बहुसंख्यक पुत्रों का होना सृष्टि नियमविरुद्ध और असंभव है। उस अश्व को इन्द्र के चुराले जाने का तत्व यह प्रतीत होता है कि भूमापक यन्त्र सूर्य ताप से विह्वल राजपुत्रों की संरक्षा में से कभी गुम हो गया होगा और वह आलंकारिक भाषा में सूर्यकृत अश्वापहार कहा गया होगा। सूर्य का इन्द्र नाम वैदिक साहित्य में आता ही है। शतपथ ब्राह्मण का वचन है—"एष एवेन्द्रो य एष तपति" शतपथ। कां० १। अध्या० ६। ब्रा० ३। कंडि० १८॥ पौराणिक काल में इस पर्याय वाचकता को न समझकर स्वर्ग के किसी राजा विशेष इन्द्र के द्वारा अश्वापहरण की कल्पना हो गई होगी।

वा यह भी हो सकता है कि ऐक्ष्वाकुओं के हिमालय (स्वर्गलोक) से अपने देश (भूलोक) में गंगा ले जाने के यश को न सह सकने वाले हिमालयाधिपति (स्वर्गाधिपति) इन्द्र ने उस भूमापक यन्त्र विशेष का अपहरण करा दिया हो और उस को बंग के उपसमुद्र (खाड़ी) के तीरवर्ती कच्छ प्रदेश (दल दल युक्त स्थान, वर्तमान सुन्दरवन) में श्री कपिल मुनि के आश्रम के पास जो वर्तमान काल में गंगा सागर कहलाता है और कपिलाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है फिकवा वा छिपवा दिया हो। वा यह भी संभव है कि बंगाल के प्रचंड मार्तण्ड के उग्रताप से उद्विग्न राजपुत्रों के पास से उस भूमापक यन्त्र के गुम हो जाने की घटना उक्त कपिलाश्रम के पास ही घटी हो और इसीकारण उस के कपिलाश्रम में छिपादेने की कथा की कल्पना हो गई हो। उस की गवेषणा में घूमते हुए इस का संरक्षक भूमापक संघ (Survey Party सर्वे पार्टी) समुद्रतट के रोगोत्पादक मारक (मलेरिया विषयुक्त Malaria)

जलवायु से रुग्ण हो कर नष्ट हो गया हो और उस के विषय में यह जनप्रवाद चल पड़ा हो कि महा मुनि कपिल पर उन के अश्व (यंत्र) की चोरी का आरोप लगाने के कारण उक्त मुनि की महिमा वा शाप से वे भस्मसात् हो गए थे। मुनि के आश्रम के पास अश्व (यन्त्र) के नष्ट होने के कारण उन का मुनि पर सन्देह और मिथ्या दोषारोपण भी असंभव नहीं है और इस दोषारोपण के अनन्तर ही मलेरिया ज्वर से उन का मरण होने के कारण मुनि के अभिशाप की बात चल पड़ी होगी। तत्पश्चात् उन की खोज में सगरपुत्र महाराज अंशुमान् के वहाँ पहुंचने पर सहज-कृपालु कपिल ने उस को यह सारगर्भित सम्मति दी होगी कि मृत राजपुत्रों का निस्तार—उन की आत्मा की शान्ति, उन के प्राणान्त परिश्रम की सफलता वा उस से उऋणता—इसी में है कि घोर तपस्या (अविश्रान्त उद्योग) करके हिमालय प्रदेश से गंगा को लाया जाय। आज कल भी ध्रुव तक पहुंचने वा हिमालय के उच्चतम गौरीशंकर शिखर पर चढने में सैकड़ों जीवन स्वाहा हो चुके हैं, पर उन के उत्तराधिकारी इस उद्योग में गतप्राण पुरुषों के प्रति अपना कर्तव्य यही समझते हैं कि उनके प्रारंभ किये हुए यज्ञों (महाकार्यों) की पूर्ति की जाय। इसी भावावेश की उत्तुङ्गतरङ्गावली वा विद्युच्छक्ति से प्रेरित जातियाँ गंगावतरण जैसे महोद्योगों में सफलता प्राप्त किया करती हैं। स्पेनवासियों का कोलंबस की प्रमुखता में अमेरिका का आविष्कार और पोर्चुगीज़ों का वास्कोडिगामा की नायकता में स्वर्णभूमि भारतवर्ष को संप्राप्ति तथा महाराज भगीरथ के भगीरथ प्रयत्न से गंगावतरण की प्रकृत कथा इतिहास में इस के ज्वलंत उदाहरण हैं।

महामुनि कपिल के शुभ परामर्शानुसार महाराज अंशुमान्, उनके पश्चात् उनके पुत्र सम्राट् दिलीप, और तदनन्तर उन के कुलदीपक आत्मज विश्वविश्रुत राजाधिराज भगीरथ गंगा लाने के लिए घोर तपस्या करते रहे—गंगा की कुल्या काट कर लाने के लिए हिमालय धरातल के समता मान (Levelling) आदि में कठोर कष्ट उठाते रहे। "तपो द्वन्द्वसहनम्" योग दर्शन के इस सूत्रानुसार तप का साधारण अर्थ द्वन्द्व वा कष्ट सहना ही होता है पर पौराणिक सूतों ने ब्रह्मा जी और महादेव जी की सन्तुष्टि के लिए ऊर्ध्व बाहु खड़े होना, जलनिमग्न रहना, पंचाग्नि तापना आदि तप वर्णन कर दिए। यह न सोचा कि गंगाऽऽनयन परिश्रम से इन तपों का क्या संबन्ध हो सकता है ?

श्री महादेव जी की तप द्वारा संतुष्टि का यह प्रयोजन हो सकता है कि महाराज भगीरथ ने, इस निबंध में आगे प्रदर्शित संगति के अनुसार, पुरुष के रूपक में वर्णित महादेव रूप हिमालय की सन्तुष्टि का ('गंगा की कुल्या काटने योग्य उस के धरातल की ज्ञान प्राप्ति रूप उस की (हिमालय की) अनुकूलता का) वा हिमालयाधीश्वर वा कैलाशपति महादेव की गंगाऽऽनयन अनुज्ञा प्राप्ति रूप अनुकूलता का उद्योग रूप तप किया होगा। श्री महादेव जी अपने ब्रह्म बल और योग संपत्ति के कारण स्वर्गाधिपति इन्द्र से भी ऊपर स्वर्ग वा हिमालय प्रदेश के सर्वोपरि अधीश्वर और धर्मगुरु माने जाते होंगे, जिस प्रकार कि आज कल तिब्बत के दलाई लामा माने जाते हैं। पर यह उद्योग तो हिमालय धरातल के माप वा हिमाद्रिपति (कैलाश पति) महादेव जी के अनुनय विनय और प्रश्रयपूर्वक प्रार्थना रूप में हो सकता है। पुराणवर्णित

रूप का इन रूपों से क्या संबन्ध हो सकता है यह साधारण मानवी बुद्धि नहीं समझ सकती।

आगे चल कर पुराण में महाराजा भगीरथ को ब्रह्मा जी के यह बतलाने का वर्णन है कि आकाशचारिणी गंगा यदि पृथिवी पर गिरेगी तो पृथिवी उस के आघात से खंड खंड हो जायगी। श्री महादेव जी में ही यह शक्ति है कि वे उस को अपने जटाजूट पर सम्भाल लेवें और फिर उस में से टपका कर पृथिवी पर बहा देवें। इस कथा का तत्वान्वेषण करने पर केवल यही तत्व निकल सकता है कि अपनी ऊँचाई के कारण हिमालय के उच्च प्रदेश को आकाश वा स्वर्ग का रूपक दिया गया है। पुराणों और महा भारत के स्वर्ग के वर्णन से प्रबल अनुमान होता है कि पौराणिक काल में हिमालय प्रदेश को स्वर्गलोक वा देवलोक कहा जाता था। वैदिक उत्तर काल याज्ञिक वा ब्राह्मणकाल में तो उत्तरमेरु वा ध्रुवप्रदेश देवलोक वा स्वर्गलोक माना जाता था, क्यों कि लोकमान्य तिलक आदि कई विद्वानों की गवेषणानुसार वैदिक आर्यों का आदिम स्थान ध्रुवप्रदेश ही था और वे अपने उस आदिम स्थान को स्वर्ग कहते थे। सम्भव है कि वहाँ से प्रवास कर के जब आर्य लोग तिब्बत आदि हिमालय प्रदेश में बस गए हों तो उन्होंने अपने पूर्वस्थान की स्मृति में वर्तमान तिब्बत का नाम भी त्रिविष्टप वा स्वर्ग रख लिया हो, जैसे कि आजकल इंग्लैण्ड के प्रवासियों ने आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका आदि अपने नवीन उपनिवेशों में अपने प्राचीनदेश के नाम न्यूसौथवेल्ज़ New South Walse और न्यूइंगलैण्ड New England आदि रख लिये हैं। स्वर्ग के पर्यायवाची त्रिविष्टप शब्द का ही अपभ्रंश होकर वर्तमान तिब्बत बन गया है, जो हिमालय प्रदेश का ही

धक भाग है। पुराणोंमें जोशिवलोक कुबेरलोक औरइन्द्रलोक आदि लिखे हैं वे सब हिमालय प्रदेश के ही नाम थे। स्कन्द पुराण में निम्न लिखित श्लोक आता है—

नन्दापर्वतमारभ्य यावत्काष्ठागिरिर्भवेत्।
तावत्केदारकंक्षेत्रं, शिवमंदिरमुत्तमम् ॥

स्कन्द पुराण मायापुरी माहात्म्य अध्याय श्लोक ३१

अर्थात् नन्दापर्वत (नन्दा हिमालय का प्रसिद्ध शिखर है) से लेकर काष्ठगिरि (शिवालक) तक केदारक्षेत्र है जिस में शिव का उत्तम महल है। इस से शिवलोक की सीमा प्रकट होती है अर्थात् उत्तर में नन्दागिरि से लेकर दक्षिण में शिवालक तक शिवलोक था। उस के अधीश्वर शिव वा महादेव कहलाते थे और महादेव राजा जनक आदि के समान उनकी वंशपरम्परागत पदवी प्रतीत होती है क्योंकि महादेव का वर्णन प्रायः सब युगों में मिलता है।

कुबेरलोक वा यक्षलोक वर्तमान भूटान प्रतीत होता है क्यों कि यक्ष का पर्याय किन्नर वा किम्पुरुष भी आता है और उनको अश्वमुख बतलाया गया है जैसा कि कविकुलगुरु कालिदास के कुमारसम्भव के निम्न लिखित पद्य से भी प्रकट होता है—

उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्,
मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता,
भिन्दंति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥

कुमारसंभव सर्ग १ श्लोक ११

वर्तमान भूटानी ही दीर्घमुखाकृति होते हैं और इन्हीं को पुराण में अश्वमुख या घुड़मुहा कहा गया है और हिमालय प्रदेश में उनके विचरण या विहार का यत्र तत्र वर्णन है।

महाभारत के वन पर्वमें अध्याय १६३ श्लोक ३ से ६ तक धौम्य ऋषि के युधिष्ठिर को मन्दराचल तथा गन्धमादन पर्वत दिखलाने और उस दिशा के इन्द्र और कुबेर द्वारा रक्षित होने और बुद्धिमानों और धर्मज्ञों द्वारा उसके इन्द्र और कुबेर का स्थान कथित होने का वर्णन है। यह उस गन्धमादन पर्वत के विषय में कहा गया है जिस पर युधिष्ठर आदि अर्जुन की प्रतीक्षा में जब वह स्वर्ग (त्रिविष्टप तिब्बत) में इन्द्र से शस्त्र प्राप्त करने गया था, ठहरे रहे थे। वहाँ ये श्लोक आए हैं।

ततः किम्पुरुषावासं, सिद्धचारणसेवितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः, पर्वतं गन्धमादनम्॥ १॥

तथा

श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो, मन्दिरञ्चैव पर्वतम्।
यत्र माणिवरो यक्षः, कुबेरश्चैव यक्षराट्॥ २॥

अर्थ—तदनन्तर उन्होंने (आनन्द से) रोमाञ्चित होकर सिद्ध और चारणों से सेवित किम्पुरुषों के निवासस्थान गंधमादन पर्वत को देखा॥ १॥

हम श्वेत गिरि तथा मन्दिर पर्वत पर जायँगे जहाँ मणिवर यक्ष तथा यक्षराज कुबेर रहता है॥ २॥

इसी प्रसंग में युधिष्ठिर के आगे जाने की इच्छा करने पर आर्ष्टिषेण ऋषि बतलाते हैं कि—

"इस पर्वत पर जल और वायुभक्षी आकाशचारी (यह

उनकी योगसिद्धि की महिमा है) तेजस्वी ऋषि पूर्णिमा आदि पर्वोंके अवसरों पर आया करते हैं। किम्पुरुष और यक्ष अपनी स्त्रियों सहित पर्वत पर फिरा करते हैं। गुह्यक, अप्सरा और गन्धर्वों के समूह सुन्दर वस्त्र धारण किए दिखाई देते हैं, वहाँ मालाधारी विद्याधर भी रहते हैं। इन पर्वतों पर भेरी मृदङ्ग आदि की ध्वनि आया करती है। सो जब कभी ऐसा हो तुम उसको यहाँ से सुनो आगे न जाओ। ये देवताओं के आनन्द करने के स्थान हैं, यहाँ से आगे जाना उचित नहीं। यहां के निवासी मनुष्य की चञ्चलता देख कर उन से बैर करने लगते हैं और राक्षस उन को मारते हैं। इस कैलास की चोटियों के आगे केवल सिद्ध और देवर्षि जा सकते हैं जो कोई और मनुष्य साहस करके वहाँ जाता है उसको राक्षस भाले से मार डालते हैं। इस पर्वत की संधियों मे कुबेर जी नर पर सवार होकर अप्सराओं को साथ लिए हुए पर्वों के अवसर पर अपना दर्शन देते हैं (कुबेर जी नर पर सवार होकर चलते थे, जैसा कि पहाड़ी धनवान् पुरुष अब भी करते हैं)। उन का दर्शन सब इस प्रकार करते हैं मानों सूर्य उदय हुआ हो। पर्वत की इस चोटी पर देवता, दानव, सिद्ध और कुबेरजी के आनन्द करने के स्थान हैं। जब पर्व आता है कुबेर जी के पास तुंबुरु और गंधर्वों के गान सुनाई देते हैं। तुम भी अर्जुन के आने तक यहीं रहो। महाभारत वन पर्व अध्याय १५८ श्लोक १३१ तक

कवि कुलगुरु कालिदास कृत कुमार सम्भव काव्य के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ के १६ पद्यों के पाठ से तो पूर्ण निश्चय हो जाता है कि हिमालय ही पौराणिकी देव भूमि या स्वर्ग था प्रारम्भ के प्रथम पद्य की टीका में प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ

जी लिखते हैं कि "अनेनास्य देवभूमित्वं सूच्यते"। इससे सिद्ध होता है कि १४ वीं शताब्दी के आधुनिक विद्वान् श्रीमल्लिनाथ तक के मत में हिमालय देवभूमि था। फिर इसी सर्ग के ४ थे पद्य में अप्सराओं का, ५ वे में किरातों का, ६ठे में सिद्धों, ७ वें में विद्याधरों, ८ वें में किन्नरों, ९ वें में देवदारु वृक्षों (जो हिमालयके उच्च शिखरों पर ही होते हैं), ११ वें में अश्वमुखों, १२ में चमरी (सुरागौओं) (ये भी तिब्बतमें ही होती हैं), १४वेमें किम्पुरुषों, १५वे में भागीरथी गङ्गा, १६वे में सप्तर्षियों (सप्तर्षि स्वर्ग में ही हो सकते हैं) की हिमालय में विद्यमानता वर्णित है। इन मनोहर पद्यों के यहाँ उद्धृत करने की हार्दिक इच्छा के होते हुए भी स्थान का संकोच मुझको ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता परन्तु विज्ञ वाचक महाशयों से मूल कुमार सम्भव काव्य में उनके पढ़ने की सानुरोध प्रार्थना है।

उपर्युक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि हिमालय प्रदेश के वर्तमान तिब्बत, सिक्कम, भूटान आदि स्थान ही पौराणिक स्वर्ग, शिवलोक और कुबेरलोक आदि थे। देव, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक, राक्षस आदि उनमें निवास करने वाली विविध जातियों के नाम थे। देव परम विद्वान् और सदाचारी परमोन्नत जाति के लोग थे। अन्य यक्ष, गुह्यक, राक्षस आदि उनसे हीनतर वर्तमान पार्वतीय जातियों के पूर्वज थे, जो देवों की गायक और रक्षक आदि की सेवा करते थे। कालचक्र की कैसी कुटिल गति है कि जो स्थान एक समय अपने वैदिक शुभानुष्ठान, विद्यासंपत् और सदाचार के कारण स्वर्गलोक अथवा देवलोक बना हुआ था और जहाँ की सत्यवादिता ब्रिटिश अधिकार के प्रवेश से पूर्व तक प्रसिद्ध थी, वह अब सर्वभक्षी,

मिथ्याविश्वासी, कदाचारी जनों का आवास बन गया है। तिब्बतियों के जघन्य कर्म भूगोलज्ञों को ज्ञात ही हैं।

अब हिमालय ही अपनी ऊँचाई के कारण उक्त वर्णनानुसार स्वर्गलोक वा द्युलोक सिद्ध होता है और गङ्गा का प्रवाह इसी में स्थित हिमानी सर (Glacier) में से 'गंगोत्री' स्थान के ११ मील ऊपर से प्रवाहित होकर आता है, तो यह स्पष्ट है कि इसको ही व्योमविहारिणी गङ्गा कहा गया था और इसको बिना घुमाव के चौदह सहस्र फ़ीट की ऊँचाई से पृथिवी पर गिराने से पृथ्वी के फट जाने वा खण्ड खण्ड होजाने की आशङ्का की जाती थी।

अब आगे महादेव जी के गङ्गा को अपने जटाजूट में लेलेने की कथा की संगति लगानी है। महादेव के पुराणों में दिये हुए रूप के वर्णन से ज्ञात होता है कि पुराणों में हिमालय को पुरुष विशेष का रूपक देकर महादेव के रूप में चित्रित किया गया है।

(१) शिव सहस्र नाम में आये हुए महादेव के 'स्थाणु' 'स्थिर' और 'ध्रुव' नाम बतलाते हैं कि महादेव अचल पदार्थ है—पर्वत है। स्थाणु आदि शब्द अचल के समानार्थक हैं।

(२) हिमालय की सब से दक्षिण की श्रेणी का शिवालक (शिवस्य अलकः = शिव की जटा) नाम इस विचार की पूर्ण पुष्टि करता है कि हिमालय को शिव वा महादेव माना जाता था।

(३) शिव के कण्ठ में अवरुद्ध विष की कल्पना यह बतलाती है कि हिमालय की निचली श्रेणियों पर के वनों में विषैली वायु की बहुतायत है।

(४) शिव का गले में सर्पों के आभूषणों का धारण इस बात का द्योतक है कि हिमालय के निम्नगिरि कानन अजगरों और सर्पों से अलंकृत हैं–उनमें उनका प्राचुर्य है।

(५) महादेव के शरीरको भस्मचर्चित और कर्पूरगौर वर्णन किया गया है। इस से भी श्वेत हिम मंडित हिमालय ही महादेव प्रतीत होता है, क्योंकि दूर से हिम भस्म के समान ही दीखता है।

(६) महादेव के मस्तक पर चन्द्रमा की विद्यमानता भी उसको हिमशीतलता का आगार हिमालय ही सिद्ध करती है, क्योंकि चन्द्रमा भी शीतलता की राशि समझा जाता है।

(७) महादेव को विरूप और तमोगुणी भी कहा गया है यह भी हिमालय की ऊबड़ खाबड़ घाटियों और उसके गह्वरों के अंधकारबाहुल्य का ज्ञापक है।

(८) महादेव 'व्याघ्रचर्मासीन' और 'गजकृत्तिवासा' (गजचर्म को धारण करने वाले) बतलाए गये हैं। यह भी हिमालय में सिंहों और गजों के अस्तित्व का रूपक है।

महादेव के सहचारी कुरूप भूतप्रेत, पिशाच वर्णित हैं। यह भी हिमालय की असभ्य उग्रकर्मा पहाड़ी जातियों के निवास का सूचक है।

(१०) पुराणों में हिमाद्रिजा गौरी महादेव की अर्द्धांङ्गिनी कही गई हैं। यह अलंकार रूप से हिमालय की मूर्तिमती शोभा वा सुंदरता का वर्णन है।

उपर्युक्त हेतुओं से अब यह पूर्णतः प्रमाणित हो गया कि हिमालय ही रूपकालङ्कार से महादेव वा शिव कहलाता था, और उसकी सब से दक्षिण की श्रेणी अब तक शिवालक

(शिव की अलक) कहलाती है तो गंगा को शिव के अपने जटाजूट में धारण करने का स्पष्ट आशय यही है कि हिमानी-सर (ग्लैशियर Glacier) से गंगा का प्रवाह घुमाव से लाया जाकर शिवालक में को दरा काट कर निकाला गया था। भूगर्भ विद्याविशारदों की अन्वेषणा बतलाती है कि किसी अति प्राचीन काल में शिवालक और उस के ऊपर की पर्वत श्रेणी की मध्यवर्ती भूमि, जो अब देहरादूनका ज़िला कहलाती है, एक विशाल सरोवर (झील) से घिरी हुई थी। यह काल-क्रम से सूख कर अब स्थल और मनुष्यों की आवास भूमि बन गई है। इस को हिमालय रूपी महादेव के कपाल (चांद) का बीच का दबाव (गर्त), ब्रह्मरन्ध्र वा अधिपतिरन्ध्र कह सकते हैं। यह कपाल का वही स्थान है जिस पर शिखा धारी आर्य सन्तान (हिन्दुओं) में शिखा रखने की परिपाटी है भूगर्भज्ञों के मतानुसार उक्त सरोवर में ही यमुना और गंगा की धाराएँ आकर पूर्व गिरती थीं। उस सरोवर का पश्चिमी किनारा जलवेग से अपने आप ही टूटकर उसमें से जलप्रवाह यमुना के रूप में स्वतः बहने लगा और स्वाभाविक नदी रूप से ढालू भूमि पर बहता हुआ बंगाल के उपसमुद्र खाड़ी में जा मिला। यमुना के स्वाभाविक नदी रूप में बहने का यह प्रमाण है कि

(१) यमुना में स्वतः प्रवाहित नदियों के समान स्थान स्थान पर सैकड़ों कुञ्ज वा मोड़ पाए जाते हैं।

(२) उसका एक ओर का दक्षिणी तट उत्तर तट की अपेक्षा बहुत ऊँचा है।

(३) यमुना के प्रवाह का वेग भी स्वाभाविक नदियों के वेग के समान बहुत द्रुत है।

(४) उसके प्रवाह का धरातल भी स्वाभाविक सरिताओं के समान ढालू है।

इसके विपरीत कृत्रिम नदी गंगा में न वैसी पास पास कुञ्जें हैं और न उसका एक किनारा दूसरे किनारों से ऊँचा है। गंगा के प्रवाह का वेग भी स्वतः प्रवाहित नदियों के वेग की अपेक्षा बहुत न्यून है और उसके धरातल की समता (लेवेल = Levell) का प्रतिशत मील मध्यमान भी स्वच्छन्द नदियोंसे न्यूनतर है। यही चार बातें स्वाभाविक और कृत्रिम नदियों के अन्तर को स्पष्ट बतलाती हैं। गंगा के काट कर लाये जाने का एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि उसकी कुल्या (नहर) के कटाव पर्वतों में सहस्रों वर्ष पश्चात् अभी तक ज्यों के त्यों स्पष्ट दिखाई देते हैं। वर्तमान भीमगोड़े स्थान के पास ही हरिद्वार की बसीकत की ओर कटे हुए शिवालक पर्वत की ऊँचाई और चौड़ाई जितनी है उतनी ही दूसरी ओर कालिका मंदिर के पास कटे हुए चंडी पर्वत की ऊँचाई और चौड़ाई अभी तक विद्यमान है। कृत्रिम कटाव की पहिचान यह है कि पर्वत के एक किनारे की कगर वा शिखर जितनी ऊँची होती है उतनी ही ऊँची उसके सामने के दूसरे पर्वत की भी होती है। प्राकृतिक कटाव में पत्थरों की तहें पतली होती हुई ढाल के रूप में समाप्त होती हैं। कृत्रिम कटाव सीधे खड़े होते हैं। गंगाद्वार हरिद्वार के उपर्युक्त कटाव भी भित्ति के समान सीधे खड़े हुए हैं।

ज्ञात होता है कि कैलासाधिपति महादेव की अनुमति से महाराज भगीरथ ने हिमानीसर से गंगा के प्रवाह को घुमाव दे कर प्रथम उपर्युक्त शिवालक सरोवर व देहरादून सरोवर में लाकर डाला होगा और वहाँ से उस सरोवर का पूर्वी

किनारा कटवा कर उसको कनखल के पास समस्थली (मैदान) में प्रवाहित किया होगा। वाल्मीकि रामायण में भी यह वर्णन आता है कि महादेव जी गंगा की धारा को कुछ वर्षों तक अपने जटाजूट में रोके रहे थे और भगीरथ के पुनः तपस्या करने पर प्रसन्न होकर उन्होंने उसको बिंदुसर के पास छोड़ दिया था। सम्भव है कि यह बिन्दुसर देहरादून सर (झील) ही हो। शिवालक के इसी पूर्वीय कटाव का नाम गंगाद्वार पड़ा जो अब हरिद्वार कहलाता है। पश्चात् हिमालय के महादेव के रूप की कल्पना होने पर उसका आलंकारिक भाषा में यूँ कथन किया गया कि गंगा शिवालक वा महादेव के जटाजूट में को होकर वस्तुतः शिवालक नामक हिमालय की सब से दक्षिणी पर्वत श्रेणी के कटाव में को होकर प्रवाहित हुई थी। उक्त कटाव का गंगाद्वार नाम बिल्कुल ही अन्वर्थक था क्योंकि उसी में होकर गंगाको समस्थलों में बहने के लिए द्वार मिला था—उसी में होकर वह मैदानों में उतरी है। इस स्थान का प्राचीन नाम गंगाद्वार ही है। महाभारत, स्मृतियों और पुराणों में यत्र तत्र गंगाद्वार नाम ही आता है। हरद्वार शब्द और उसकी वर्तमान बसीकत बहुत अर्वाचीन है। किसी प्राचीन पुराण वा इतिहास में हरिद्वार का उल्लेख नहीं है। मायापुरी माहात्म्य तक में, जो अपनी अध्याय दस में वर्णित "म्लेच्छ वेश्यासमासक्त" (मुसलमान रंडी पर मोहित) वैश्यपुत्र की कथा से मुसलमानी काल की कृति जान पड़ता है, गंगाद्वार का ही कथन है। हरिद्वार का नाम सबसे पूर्व फ़ारसी तारीख़ फ़रिश्ता में, जो अकबर के समय की विक्रम की सोलहवीं शताब्दी की रचना है, आता है। इससे ज्ञात होता है कि हरिद्वार नाम का आवास वा नगर प्राचीन काल

में विद्यमान न था। जिस प्रकार गंगा का तट और स्थानों पर वन से व्याप्त है उसी प्रकार गंगाद्वार के पास के गंगातट पर भी वन होगा। तीर्थ की कल्पना बहुत ही नवीन प्रतीत होती है। कहते हैं कि हर की पैड़ी का छोटा सा घाट, जिसकी आठ सीढ़ियाँ वर्तमान हर की पैड़ी के बड़े घाट से उत्तर को गंगापुरी महन्त की हवेली के पास अबतक विद्यमान हैं, सबसे प्रथम जयपुराधीश्वर मानसिंह ने अकबर के राजत्व काल में विक्रमी सोलहवीं शताब्दी में बनवाया था। उसी के पास राजा मानसिंह की छतरी भी विद्यमान है। हरद्वार के पंडों की बहियाँ जिनमें वे अपने यजमान यात्रियों के नाम लिखते हैं सं० १६०० विक्रमी से पूर्व की नहीं पाई जातीं। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि इससे पूर्व वहाँ कोई हरिद्वार नामक तीर्थ विद्यमान न था। हाँ गङ्गाद्वार से कुछ दूर पर मायापुरी बड़ा नगर बसा हुआ था उसकी गणना पौराणिकों की सप्त पुरियों में होती थी, जैसा कि गरुड़पुराण के निम्न लिखित श्लोक से प्रकट है—

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव, सप्तैते मोक्षदायिकाः ॥

पर मायापुरी नाम से यह अनुमान होता है कि उसको श्रीबुद्धदेव की माता मायादेवी के नाम पर बौद्धों ने बसाया होगा। माया पौराणिकों की कोई प्रसिद्ध प्राचीन देवता नहीं है। हरिद्वार ज्वालापुर की सड़क पर वर्तमान मायादेवी के मन्दिर में स्थापित मायादेवी की मूर्त्ति के विषय में कई ऐतिहासिकों का अनुमान है कि वह बौद्ध मूर्त्ति है।

कनखल का उल्लेख भी महाभारत वनपर्व के निम्नलिखित पद्यांश में है—

एते कनखला राजन् ऋषीणां दयिता नगाः ।

तथा कविकुलगुरु कालिदास के मेघदूत के पूर्वमेघ के निम्नलिखित पद्य में भी कनखल का नाम निर्दिष्ट है—

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णाम्,
जन्होः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचिनां या विहस्येव फेनैः,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥

भाषा—उस कुरुक्षेत्र में कनखल के पास हिमवान् पर्वत से उतरी हुई और सगर राजा के पुत्रों की स्वर्ग जाने की सीढ़ी सदृश जन्हु की कन्या गङ्गाजी के पास पहुंचना । जिन गङ्गाजी ने पार्वती जी के मुख पर के भ्रुकुटि चढ़ाने को फेनों से हँस कर मानों चन्द्रमा पर अपने तरंगरूपी हाथों को लगाते हुए महादेव जी के केश को पकड़ लिया ।

पर उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में कनखल पर्वत का नाम लिखा है, नगर का नहीं । महाभारत के पूर्वावतरण में तो पर्वतवाची 'नगाः' शब्द प्रत्यक्ष पड़ा हुआ है और मेघदूत के उक्त अवतरण की टीका में मल्लिनाथ ने "कनखलाद्रेः" लिखा है । इससे ज्ञात होता है कि कनखल शिवालक पर्वत श्रेणी का नामान्तर होगा या उसका कोई विशेष भाग कनखल पर्वत कहलाता होगा । इससे प्राचीन समय में कनखल नगर की विद्यमानता प्रमाणित नहीं होती । वर्तमान कनखल नगर के भवनों की बनावट भी उसको अर्वाचीन बतला रही है । कनखल के प्रतिष्ठित वैद्य पं० यागेश्वर जी ने एक बार इस लेखक को बतलाया था कि उनके वृद्ध चचा कहा करते थे कि वर्तमान कनखल नगर का कोई भी भवन २००। १५० वर्ष से पुराना नहीं है ।

प्राचीन समय में स्वच्छसलिला भागीरथी के शांततीर योगियों की समाधि सिद्धि और ऋषि मुनियों की विद्याचर्चा के उपयुक्त स्थान थे। कभी कभी गृहस्थ लोग वहाँ जाकर उनके पुण्यदर्शनों के साथ साथ गङ्गाजल के स्वास्थ्यवर्धक स्नान का आनन्द भी उठाया करते थे। शनैः शनैः वहाँ मनुष्यों का जमघट रहने लगा और उसने वर्तमान हरद्वार और कनखल की बसीकतों का रूप धारण कर लिया, और वे तीर्थ स्थान माने जाने लगे। इन नगरों की उपर्युक्त विवेचना से यह द्योतित होता है कि जल, स्थल आदि में तीर्थत्व की भावना आधुनिक समयों में उत्पन्न होकर किस प्रकार बढ़ती रही है और नवीन नवीन तीर्थों के जन्म का क्या प्रकार है। आज कल गङ्गातीर के हरिद्वार आदि तीर्थस्थान सब प्रकार के कदाचारों के गढ़ बन रहे हैं। शान्ति और सात्विकता तो उन से कोसों दूर है। वे केवल तीर्थध्वाङ्क्षों के नीड़ वा तरक्षुओं का क्षेत्र कहला सकते हैं। धर्मोद्धारकों और देशहितैषियों का परम कर्तव्य है कि इन स्वार्थ सिद्धि के स्थानों का सुधार यदि इनकी शक्ति से बाहर हो तो उनसे उदासीनता और उपरति का बर्त्ताव करें और वहां के पाशविक प्रवृत्तियों के प्रतिबोधक दृश्यों को देखने के लिये वहां जाने में जनता के तथा अपने धन और समय को व्यर्थ नष्ट होने से बचायें।

विचारवान् धार्मिक पुरुषों को जहाँ आज कल के अपने सेवकों को भी जड़ बनाने वाले जड़ तीर्थों की दुर्दशा देखकर खेद होता है, वहाँ अपने महाराज भगीरथ सदृश परोपकारी पूर्वजों के उपकार तथा परिश्रम को देखकर आनन्द भी होता है कि उन्होंने गङ्गाप्रवाह प्रवर्तन प्रभृति कैसे २ लोककल्याणकर कार्य करके भारत को भव्य स्वर्गधाम बना दिया है। गङ्गा-

वतरण से इस शुष्क और उष्ण प्रदेश को कसी क्या बहुमूल्य लाभ हुए हैं, इसका कुछ दिग्दर्शन इस क्षुद्र निबंध के आदि में कराया जा चुका है। उनके अतिरिक्त गंगावतरण से बड़े लाभ हुए कि देहरादून के शिवालक सर वा पुराण वर्णित बिन्दुसर के शुष्क होजाने से सैकड़ों मील भूमि सहस्रों मनुष्यों के आवास के योग्य बन गई और इस सरोवर के जल पूर्ण रहने के कारण उसके पूर्वतटवर्ती देश (वर्तमान टिहरी, गढ़वाल, अलमोड़ा, आदि) से उसके पश्चिमतटवर्ती (वर्तमान राम-नगरमंडी, जौनसारबावर (Jonsar Bawer) आदि स्थानों को जो यातायात रुका हुआ था, उसके शुष्क होने से वह भी सुगमता से होने लगा। गंगा में गंगाद्वार से प्रयाग तक नौकाओं के चलने से पार्वतीय पदार्थों और अन्य वस्तुओं के व्यापार की जो वृद्धि हुई उससे उत्तर कोसलप्रांत (वर्तमान पश्चिमोत्तर प्रांत आगरा वा अवध का यही प्राचीन नाम है, और हमको कोकनाडा कांग्रेस के गांधीनगर के कोसलप्रान्त शिबिर के अनुकरण में उसी (उत्तर कोसल प्रांत) शब्द को व्यवहार में लाना चाहिए) की प्रजा को कितनी समृद्धि प्राप्त हुई थी, वह यहाँ रेल मार्ग के विस्तार से पूर्वकाल के लोग भले प्रकार अनुभव करते थे।

इन ही परोपकार परंपराओं के वशीभूत होकर गंगा, भागी-रथी बन कर, भगीरथ के शुभ्रयश को आचन्द्रदिवाकर शाश्व-तिक और सर्वव्यापक बना रही है, तथा भगीरथ प्रयत्न के भव्य भाषा व्यवहार (मुहावरे) का प्रतिपुरुष की जिह्वा से जप करा रही है। आज महाराज भगीरथ को हुए लाखों वर्ष बीतने पर भी भारतीय जनता भगीरथ के नाम और गंगावत-रण की तिथि को नहीं भूली है। हमारे प्राचीन ऐतिहासिकों

का हमारे ऊपर कितना बड़ा उपकार है कि वे हमारे महा-महिमशाली महापुरुषों की जन्मतिथियों के साथ साथ गंगावतरण सदृशी महत्वपूर्ण घटनाओं की तिथियों का उल्लेख भी हमारे लिए कर गए हैं। स्कंदपुराण का निम्नलिखित श्लोक इसका साक्षी है—

"दशम्यां शुक्लपक्षे तु ज्येष्ठमासे बुधेऽहनि।
अवतीर्णा यतः स्वर्गात् हस्तर्क्षे च सरिद्वरा॥

अर्थ—ज्येष्ठ सुदि दशमी को बुधवार हस्तनक्षत्र में गंगा का अवतरण स्वर्ग (हिमालय) से भूमि (समस्थली) पर हुआ था।

इस लिए ज्येष्ठ सुदि १० को प्रतिवर्ष आर्यसन्तान गंगाव-तरणोत्सव ससमारोह मनाती रही है। यह अन्य बात है कि इतना महादीर्घ काल पाकर उसके चारों ओर असंबद्ध दन्त-कथाओं और मिथ्या भावनाओं का घास फूंस खड़ा होगया है। स्वदेशाभिमानी, तथा विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है कि वे उस घास फूंस की नराई करके गंगावतरण तत्व के सुन्दर स्वरूप का दर्शन जनता को कराते रहें और इस पर्व के मनाने की परम्परागत परिपाटी का लोप न होने दें।

आर्य पुरुषों और परिवारों में उसके मनाने की परिशोधित पद्धति यह होनी चाहिए कि उस दिन सुलभतानुसार प्रातः गङ्गा स्नान के अनन्तर सामान्य पर्व पद्धति के अनुसार प्रत्येक परिवार में गृहमार्जन लेपन तथा हवनादि होना चाहिए और सायङ्काल को सामाजिक विधानानुसार सभा होकर उसमें गंगावतरण के विवेचन और उसके द्वारा महाराज भगीरथ की परोपकारपरायणता पर भाषण, निबन्धपाठ और संगीत (गान) होना चाहिये।

व्यास-पूजा

॥ आषाढ सुदि पूर्णिमा ॥

विद्यावारिधि व्यासदेव ने, समझे ऋगयजु साम।
सिद्ध प्रसिद्ध महा विज्ञानी, शुद्ध बुद्ध सुख धाम॥

(महाकवि शङ्कर कृत)

यह भारत वसुन्धरा शतशः पुण्य श्लोक, ब्रह्मवर्चस्वी, मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों, ध्यान निमग्न मुनियों, समाधिसिद्ध योगियों, तत्वदर्शी दार्शनिकों, क्रान्तदर्शी कवियों और प्रतिभाशाली ग्रन्थप्रणेताओं के शुभाविर्भाव से अपने आप को कृत कृत्य करती रही है, पर उन में आदि कवि वाल्मीकि और वेदव्यास कृष्णद्वैपायन की महिमा अपरम्पार है—उनका ज्ञान-प्रसार और पुस्तकप्रणयन का यश सर्वातिशायी है। आदि कवि ने सूर्यवंशावतंस इक्ष्वाकुकुलकमलदिवाकर श्रीरामचन्द्र की कीर्ति के विस्तार के साथ अपने नाम को भी रामायण रच कर अजरामर बना दिया है। परन्तु वेदव्यास का गौरव कई अंशों में वाल्मीकि को भी अतिक्रमण कर गया है। वाल्मीकि आदि कवि और ऋषि हो कर ही रह गए, पर व्यास का इतना विस्तार हुआ कि वह ऋषि विशेष का नाम न रह कर विशेषज्ञ विद्वानों का पद बन गया। स्वविद्याबुद्धि के लिये विख्यात विद्वान् ही व्यास पदवी के धारण से प्रतिष्ठित होते हैं। व्यास किसी वृत्त के केन्द्र में को होती हुई वार पार जाने वाली रेखा को कहते हैं। इसी लाक्षणिक अर्थ को लेकर विद्या

का पारंगामी पुरुष व्यास कहलाता है । श्रीकृष्ण द्वैपायन अपने काल के एक ही विद्यापारंगत पंडित थे । इसलिये सर्व प्रथम व्यास की प्रतिष्ठित पदवी का प्रयोग उन्हीं के प्रातःस्मरणीय नाम के साथ हुआ था । उनकी महिमा इससे बढ़कर क्या हो सकती है कि उच्चतम कोटिके विद्वान् उन्हींकी पदवी के ग्रहण से अपनी गौरव वृद्धि मानते आये हैं । कृष्णद्वैपायन के पीछे विक्रम से पूर्व लगभग छठी शताब्दी में वेदान्तसूत्रकार बादरायण भी ऐसे भारी दार्शनिक और प्रकांड पंडित हुए कि वे व्यास पदवी से विभूषित किए गए । उनके वेदान्त दर्शन के विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है—

> तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि, जम्बुका विपिने यथा ।
> न गर्जति महाशक्तिः, यावद्वेदान्तकेसरी ॥ १ ॥

अर्थात् वन में गीदड़ों के समान अन्य शास्त्र तब तक गर्जते हैं, जबतक अपनी सटा फटकार कर वेदान्तरूपी सिंह नहीं गर्जता है ।

वस्तुतः वेदान्त दर्शन का कोटिक्रम ऐसा ही विलक्षण है कि और दर्शनों की आभा उसके सामने फीकी पड़ जाती है । इस के अतिरिक्त उसका ब्रह्मजिज्ञासा का विषय भी ऐसा सर्वोत्कृष्ट है कि और विषयों का प्रतिपादन उसकी अपेक्षा तुच्छ जँचता है ।

दीर्घकाल से जनता में यह भ्रम फैल रहा है कि कृष्णद्वैपायन व्यास और बादरायण व्यास एक ही पुरुष थे और श्री कृष्णद्वैपायन व्यास ही वेदान्त दर्शन के प्रणेता थे । परंतु वेदान्त दर्शन की सूक्ष्म दृष्टि से पर्यालोचना करने पर यह भ्रान्ति निर्मूल सिद्ध होती है । उक्त दर्शन में कृष्णद्वैपायन से कई सहस्र वर्ष पश्चात् जन्मे हुए लोकायतिक, सौगत (बौद्ध)

तथा जैन दर्शनों के सिद्धांतों का निराकरण विद्यमान है। बादरायण ने व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि के भी उद्धरण दिये हैं और यतः पतंजलि का समय विक्रमसे पूर्व नवम और दशम शताब्दी के मध्य निश्चित है अतः बादरायण विक्रम पूर्व की दशम शताब्दी से पूर्व के कदापि नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त बादरायण ने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासकृत भारतान्तर्गत भगवद्गीता के प्रमाण अपने वेदान्त दर्शन में स्मृति के नामसे उद्धृत किये हैं। यदि भगवद्गीता और वेदान्तदर्शन का कर्ता एक ही होता तो ऐसा कदापि संभव नहीं था। कृष्णद्वैपायनका नाम उनके पिता कृष्णद्वीपीय पराशर के नाम पर कृष्णद्वैपायन विख्यात है, पराशर प्रयाग राज के पास यमुना नदी के मध्यवर्ती कृष्णद्वीप के निवासी होने के कारण कृष्णद्वीपीय या कृष्णद्वीपायन कहलाते थे। कृष्णद्वीपायन के पुत्र व्याकरणानुसार कृष्णद्वैपायन कहलाए। किन्तु बादरायण के पिता का नाम बादरि था और वे हिमालय पर्वतस्थ बदरिकाश्रम पर रहते थे, सम्भव है कि बदरिकाश्रम पर निवास के कारण ही ही उनका नाम बादरि पड़ा हो। इन अवस्थाओं में कृष्णद्वैपायन और बादरायण एक ही पुरुष कदापि नहीं हो सकते। इस के अतिरिक्त श्री बादरायण व्यास के पुत्र तथा शिष्य शुकयोगीन्द्र थे, उनके शिष्य गौड़पादाचार्य, गौड़पादाचार्यके शिष्य गोविन्दयोगी, और श्री गोविन्द योगी के शिष्य आदि शङ्कराचार्य थे। आदि शङ्कराचार्य का जन्म विक्रम से ४५२ वर्ष पूर्व हुआ था। उन्होंने वृद्ध श्री गौड़पादाचार्य का बदरिकाश्रम में आकर दर्शन किया था। इससे श्री बादरायण व्यास का समय भी विक्रम से ५-६ शताब्दी पूर्व प्रतीत होता है जो श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास से दो ढाई सहस्र वर्ष पीछे है। यद्यपि बादरायण

आदि बहुत से व्यासों ने भारत भूमि को अपने जन्म से भूषित किया था और वर्तमान शताब्दी में भी श्री अम्बिकादत्त व्यास अपने पांडित्य और कवित्व से भारत के गौरव वर्धक बने थे, तथापि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास की व्यासता अपना विशेषत्व अपने साथ लिये हुए है। उनकी अलौकिक कविप्रतिभा और सर्वविषय-पारंगामिता अनुपम है, उनकी कृति भारत ने उनके यश को अद्वितीयगामी बना दिया है। उसमें सृष्टि के आरंभ से लेकर पाण्डव युधिष्ठिर के समय तक का भारतीयों का इतिहास और विज्ञान भरा हुआ है। भारत आर्यों के धर्म, दर्शन, तथा ज्योतिष इत्यादि सर्वविद्याओं और कलाओं का विश्वकोष है। वह उनको धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके साधन बतलाता है, इसी लिये वह पाँचवाँ वेद कहलाता है। उसके विषय में यह लोकोक्ति प्रचलित है—

न तदस्ति हि लोकेऽस्मिन्भारते यन्न दृश्यते।

अर्थ—जो बात भारत में नहीं दिखलाई देती वह लोक में ही नहीं है। इस कहावत का दूसरा रूप यह भी है—

यन्न भारते तन्न भारते।

अर्थ—जो भारत में नहीं है वह भारत वर्ष में भी नहीं है।

उसके शान्तिपर्व में उपनिषदों का सार, धर्म का तत्व और राजनीति सविस्तर वर्णित हैं। भारत में बीच बीच में कूट श्लोकों की दुरूहता उसके कर्ता के गंभीर पाण्डित्य की द्योतक है। श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी गोवर्धन सप्तशती में भारत की प्रशंसा में क्या ही सुन्दर पद्य लिखा है—

व्यासगिरां निर्यासं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति॥

अर्थ—मैं व्यास की वाणी के निचोड़, संसार के सार भारत की वन्दना करता हूं। उस के भूषण होने के कारण ही उस से चिन्हित नाम को भारती (सरस्वती) ने धारण किया है—भारत को भूषण मान कर ही भारती (सरस्वती) ने अपना नाम भारती रक्खा है।" यद्यपि रामायण के समान भारत में भी बहुत कुछ प्रक्षेप हुआ है और यह क्षेपक एक साथ नहीं, समय समय पर मिलाए गए हैं। बहुत से क्षेपक तो पुराणों की कल्पना के उपरान्त के मालूम होते हैं, क्योंकि उन क्षेपकों की गप्प पुराणों की गप्प से भी आगे बढ़ गई है। किन्तु प्रक्षिप्त अंश छिपाए नहीं छिपता, वह ओज, प्रसाद, माधुर्य जो व्यास के अक्षरों में है वह प्रक्षिप्त अंशों में है ही नहीं" (हिन्दी-प्रदीपसम्पादक पं० बालकृष्णभट्ट के लेख से उद्धृत)। महाभारत के विमर्श विषयक महाभारत मीमांसानामक एक उत्तम ग्रन्थ विद्यमान है जो पं० चिन्तामणि विनायक वैद्य M.A.,L.L.B. कृत मराठी "महा भारत उपसंहार" का पं० माधवराव सप्रे कृत हिन्दी अनुवाद है और बालकृष्ण पांडुरंग ठकार ग० वि० चिपलूणकर मंडली के स्वामी बुधवार पेठ नम्बर १७३ पुना से प्राप्य है। इस ग्रन्थ में महाभारत के प्रणेतृत्व, काल, सामाजिक परिस्थिति आदि का विस्तृत विवेचन है। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक पर्यालोचकों को अवश्य पढ़ना चाहिये।

वाल्मीकि ने अपने रामायण में आद्योपान्त अपने चरित्र नायक श्रीरामचन्द्र का ही यश गाया है परन्तु व्यास ने नल, सत्यवान् और सावित्री इत्यादि के चरित्र लिख कर न जाने कितने कथानक अपने काव्य महाभारत में जोड़ दिए है। इस का यही प्रयोजन प्रतीत होता है कि जिस से उन का यह

ग्रन्थ अधिक रोचक बन जाय और पढ़ने वालों को उस से प्रत्येक इतिहास तथा विषय की जानकारी हो जाय।

रामायण के समान भारत की कथा भी सब भाँति उपदेश-पूर्ण है। शोक संतप्तों को शान्ति देने वाली, कायरों में स्फूर्ति तथा वीरता का संचार करने वाली, आत्मतत्व का मर्म बतलाने वाली हिन्दुओं की बाइबिल वह श्रीमद्भगवद्गीता भी भारत का ही भाग है जिस के विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है—

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थ—जितने उपनिषत् हैं वे मानों गौ हैं, श्रीकृष्ण स्वयं दूध दुहने वाले (ग्वाला) हैं, बुद्धिमान् अर्जुन उस का भोक्ता बछड़ा है और जो दूध दुहा गया है वही मधुर गीतामृत है। श्रीमद्भगवद्गीता पर भारत में आविर्भूत प्रत्येक प्राचीन और नवीन सम्प्रदाय के सैकड़ों भाष्य और टीकाएँ विद्यमान हैं और उस के दूसरी भाषाओं में अनुवादों की संख्या ईसाइयों की बाइबिल से दूसरी है। आदि शंकराचार्य जैसे महादार्शनिक और लोक मान्य तिलक जैसे कर्मयोगी ने भी उस पर अपने भाष्य किये हैं।

भारत में नहुष और युधिष्ठिर के संवाद में ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व का बहुत अच्छा निर्णय कर के कृष्णद्वैपायन ने अपने औदार्य का दिग्दर्शन कराया है। उस प्रकरण का सार इन श्लोकों में निहित है—

शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म, द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो, ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प, वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प, तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥

अर्थ—यदि शूद्र में ब्राह्मण के सब लक्षण हों और ब्राह्मण में (ब्राह्मण के लक्षण) न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं है, न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है । हे सर्प, (नहुष) जिस में ये लक्षण दिखाई देवें वही ब्राह्मण है और जिस में इन का अभाव हो वही शूद्र है ।

यदि वाल्मीकि और व्यास की कवित्व शक्ति का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण और पाण्डवों आदि महापुरुषों, माननीय महर्षियों और राजर्षियों को कौन जानता। बिल्हण कवि ने क्या ही ठीक कहा है ।

लंकापतेः संकुचितं यशो यत्, यत्कीर्तिपात्रं रघुराजसूनुः ।
स सर्व एवाद्यकवेः प्रभावो, न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

लङ्कापति रावण का जो यश संकुचित है और रघुवंशी रामचन्द्र जो कीर्ति का पात्र है, यह सब आदि कवि वाल्मीकि का ही प्रभाव है इस लिए राजा को कवियों को कुपित नहीं करना चाहिए ।

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं, नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः ।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा, रम्यनिर्माणशालिनः ॥

अर्थ—रमणीक सृष्टि के रचने में चतुर कवि प्रजापतियों को छोड़ कर बीते हुए समय को प्रत्यक्ष कर दिखाने वाला और कौन हो सकता है ।

इस समय भारतीय इतिहास के अंधकाराच्छन्न होने पर पददलित भारतीयों के लिए इतिहास का कुछ प्रकाश दिखाने

वाले वाल्मीकीय रामायण और व्यासकृत महाभारत ही विद्यमान हैं; जिस से परपददलित भारतीय इतिहास की शिक्षा लेते हैं और समुन्नत जातियों के सामने अपना मस्तक उठाकर चलते हैं। भारत के समस्त कवियों के उपजीव्य भी रामायण और भारत ही हैं। संस्कृत और भाषा के जितने काव्यों का भारत में जन्म हुआ है, वे सब अपने कथानकों और अधिकांश भावों और अलंकारों तक के लिए वाल्मीकि और व्यास के ऋणी हैं।

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास की अन्य कृतियाँ अठारह पुराण माने जाते हैं और उन के विषय में "अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः" अठारह पुराणों के बनाने वाले सत्यवती के पुत्र (व्यास) हैं, यह कहावत चली हुई है। परन्तु अठारह पुराणों के वर्तमान स्वरूप को देख कर धर्मांध कट्टर सनातनी के अतिरिक्त साधारण बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती कि उनका कर्ता कोई एक पुरुष हो सकता है। यह दूसरी बात है कि पुराणों की ऐतिहासिक राजाओं की वंशावलियाँ और कई आख्यान आदि कतिपय भाग उपादेय और और शिक्षाप्रद हैं, पर उनका अधिकांश रोचक और भयानक कथाओं और सांप्रदायिक इष्टदेवों के उत्कर्षापकर्षव्यापक उपाख्यानों से परिपूर्ण हैं, और उस में से तत्वांश का ग्रहण किन्हीं विरले क्षीर नीर विवेकी हंसों का ही काम है। वस्तुतः जैसा कि हनूमज्जयन्ती के निबंध में प्रतिपादन किया गया है, हमारे सारे वर्तमान धर्म ग्रन्थ तान्त्रिक तथा बौद्ध सांप्रदायिक विप्लवों के पश्चात् वैदिक और पौराणिक मिश्रित मत के पुनरुद्धार समय के पुनः संस्करण हैं और फलतः अब कोई भी प्राचीन धर्म ग्रन्थ अपने वास्तविक शुद्ध रूप में विद्यमान

नहीं हैं, अतएव वर्तमान ग्रन्थों के अयुक्त असंबद्ध और प्रक्षिप्त अंशों से सुरक्षित रहने के लिए वेदों के स्वतः प्रामाण्य और तद्व्यतिरिक्त ग्रंथों के परतः प्रामाण्य का सनातन और आधुनिक आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द से भी उपदिष्ट सिद्धान्त ही हमारी शरण हो सकता है। जब हमारे सारे धर्मग्रन्थों की यह अवस्था है तो बेचारे पुराणों की कथा ही क्या है, वे तो मतवादों के पारस्परिक संघर्ष का प्रधान क्षेत्र (अखाड़ा) बने रहे हैं। इस समय हमारी नीति यही रहनी चाहिये कि उपादेय ग्राह्य सारभाग जहाँ से भी मिले—चाहे वह ब्राह्मण ग्रन्थ, रामायण, भारत, पुराण आदि में कहीं क्यों न हो—उसका संग्रह, और हेय और फल्गु भाग का त्याग करते रहें। "सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ही हमारा मुख्य सिद्धान्त है। कवि कुलगुरु कालिदास का निम्नलिखित पद्य हमारा पथ प्रदर्शक होना चाहिये—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थ—पुराना सब कुछ ही अच्छा नहीं होता और नया सब कुछ बुरा नहीं होता। सज्जन लोग परीक्षा करके दोनों में से एक (ग्राह्यांश) का सेवन करते हैं, परन्तु मूर्ख अपनी बुद्धि को दूसरों के विश्वास पर छोड़ देते हैं।

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास श्रीमती सत्यवती के उदर से श्री पराशर ऋषि के औरस पुत्र थे। सत्यवती शूद्र (धीवर) कुल में उत्पन्न होकर भी अपने सौन्दर्य आदि दिव्य गुणों के कारण पराशर ऋषि की स्त्री बनी थी और उसके गर्भज कृष्ण-द्वैपायन अपने गुण कर्म की महिमा से ऋषि और व्यास की

पदवी के अधिकारी हुए और वेद पारंगत होने के कारण वेद-रूपी परिधि के व्यास वा वेदव्यास (केन्द्रगत वार पार आने वाली मध्यरेखा) कहलाए। यह द्वापर के अंत तक गुणकर्म पर अवलंबित वर्णव्यवस्थाके प्रचलित रहनेका प्रबल प्रमाण है।

उन का जन्म आषाढ सुदि पूर्णिमा को हुआ था इस लिये वृद्ध भारत का प्राचीन प्रथानुसार उन के विशेष स्मरण के लिए उसी तिथि को उनकी जयन्ती मनाई जाती है। उन के गुण संकीर्तन के साथ साथ उस दिन अपने २ विद्यागुरुओं की पूजा की परिपाटी भी इस देश में प्रचलित है। प्रत्येक द्विजन्मा उस दिन अपने विद्यागुरु को अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाता है। उस की सेवा में यथासामर्थ्य द्रव्य और वस्त्रादि के रूप में दक्षिणा समर्पित करता है। भारतीय वेतन ले कर विद्या दान को विद्या विक्रय कहते थे और उस को कन्याविक्रय और गो विक्रय के समान ही निन्दित मानते थे। यह भाव गत शताब्दी तक जागृत था कि नियत वेतन ले कर विद्या पढ़ाना ब्राह्मण स्वीकार नहीं करते थे। शिष्य लोग अपनी भक्ति के प्रदर्शनार्थ वर्ष में एक बार उपरिवर्णित व्यास पूजा के दिन अपनी भेंट वा उपहार उनको अर्पण करते थे। आज कल के पतित और अर्थ परायण समय में वह गुरु शिष्य का भक्तिभाव स्वप्नमात्र रह गया है और वर्तमान जीवन के दुर्धर्ष संघर्ष में गुरुओं के लिए वेतन बिना विद्यादान असंभव प्राय हो गया है। तथापि वर्ष में एक बार गुरुभक्ति प्रदर्शन का पुराना प्रकार सर्वथा श्लाघनीय अनुमोदनीय तथा अनुकरणीय है। आवश्यकता है कि उसका पुनरुज्जीवन किया जाय और सर्व सुधारों के आशा केन्द्र आर्य सामाजिक पुरुषों से पूर्ण आशा है कि वे उसको परिमार्जित रूप में पुनः प्रचारित कर के यश के भागी बनेंगे।

पद्धति

व्यास पूजा पर्व का पद्धतिक्रम इस प्रकार होना चाहिए कि प्रातः सामान्यपर्वपद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार गृह-परिमार्जन लेपन तथा स्नान के पश्चात् सामान्य हवन यज्ञ होना चाहिए और अपने विद्यागुरु को ही उसका ब्रह्मा बना कर विशेष दक्षिणा (द्रव्य और वस्त्र आदि) के दान तथा भोजन से सत्कृत तथा संतुष्ट करना चाहिए।

सायं काल को सामाजिक कृत्य होना चाहिए, समाज में श्रीकृष्णद्वैपायन वेद व्यास की स्मृति, उन के गुणानुवाद विषयक व्याख्यान और प्रबन्ध पाठ, संकीर्तन और गान होने उचित हैं।

व्यास-स्तवन ।

शुभ-सौम्य-मूर्त्ति तेजोनिधान,
हो अन्य भानु ज्यों भासमान ।
ध्यानस्थ स्वस्थ सद्धर्म-धाम,
भगवान व्यास तुमको प्रणाम ॥१॥
तव गुण अनन्त भू-कण समान,
है कौन उन्हें सकता बखान ?
उपकार यादकर तव अपार,
होते बुध विस्मित बार बार ॥ २ ॥
कर ज्ञान-भानु तुमने प्रकाश,
अज्ञान-निशा कर दी विनाश ।
कर तव शिक्षामृत-पान शुद्ध,
संसार हुआ शिक्षित प्रबुद्ध ॥ ३॥
क्या राजनीति, सामान्य-नीति,
क्या धर्म्म-कर्म, क्या प्रीति-रीति ।
क्या भक्ति-भाव, व्यवहार वेश,
उपदेश दिये तुमने अशेष ॥ ४ ॥
है विषय अहो ? ऐसा न एक,
जिसका न किया तुमने विवेक ।
रचनायें कवियों की प्रशस्त,
उच्छिष्ट तुम्हारी हैं समस्त ॥५॥

बुधजन-समाज जिसको तमाम,
है रक्खे पञ्चम वेद नाम ।
इतिहास महाभारत पुनीत,
सो रचा तुम्हीं ने है प्रतीत ॥६॥
हो जाता धर्म सहाय-हीन,
सब पूर्व-कीर्ति होती विलीन ।
स्वच्छन्द विचरते पाप, ताप,
लेते न जन्म यदि ईश ! आप ॥ ७ ॥
करता शुभ कर्म प्रचार कौन ?
सिखलाता वेदाचार कौन ?
हरता तुम बिन त्रयताप कौन ?
दिखलाता पूर्व-प्रताप कौन ? ॥ ८ ॥
जो आर्य-जाति का कीर्त्ति-गान,
पाता है जग में मुख्य मान ।
है उसका जो गौरव महान,
सो किया आप ही ने प्रदान ॥ ९ ॥
वर्णन करते भी वाह वाह,
रहते हैं तव गुण-गण अपार ।
घन चाहे जितना भरें नीर,
घटता न किन्तु सागर गँभीर ॥ १० ॥
है हमें तुम्हारा अमित गर्व,
है तव कृतज्ञ संसार सर्व ।
है भारत धन्य अवश्यमेव,
तुम हुए जहाँ अवतीर्ण देव ! ॥ ११ ॥

श्री तुलसी जयन्ती

॥ श्रावण शुक्ला सप्तमी ॥

बन राम रसायन की रसिका,
रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके,
जनमानस का मल सारा टला ॥
बनी पावन भावकी भूमि भली,
हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी तलसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला ॥

"श्री हरि औध"

भारत के इतिहास में विक्रमादित्य की १६ वीं शताब्दी ऐसा समय था जब देववाणी के धर्मग्रन्थों का पठन पाठन कुछ सौभाग्य शाली विरले ब्राह्मण कुलों तक सीमाबद्ध होगया था। सर्व साधारण के लिये उनके दर्शन तक दुर्लभ होगये थे। साधारण जनता में बहुत से नागरिक उच्चकुल तो मुसलमान शासकों की सेवा करके सम्मान और वित्त की प्राप्ति के लिये विदेशी भाषा और फ़ारसी लिपि के अध्ययन में तन्मय रहते थे। उनके यहाँ प्रत्येक बालक के वेदारम्भ संस्कार के स्थान में "बिस्मिल्लाह" की रस्म अनिवार्य बनगई थी। फलतः उनलोगों का सनातन वैदिक धर्म से नाम मात्र संबन्ध रहगया था। उसके मूल सिद्धान्तों, उसके संस्कारों, उसकी परंपरागत

ऐतिहासिक कथाओं और आख्यायिकाओं तक का उन को ज्ञान न था। वे केवल चौके के हिन्दू रहगये थे, वैयक्तिक विश्वास और चाल ढाल में वे अधिकांश मुसलमान बनगये थे।

दूसरी ओर ग्रामीण जनता निरी निरक्षर वा नाम मात्र की साक्षर रहकर नाना नव कपोलकल्पित मतों के जाल में फँस रही थी। जहाँ मुसलमानों के पीर, औलिया और फ़क़ीर उन के सनातन विश्वासों को डिगा कर उनके मनों में मुसलमानी भाव भर रहे थे, वहाँ नए नए ग्राम्य देवी देवता जन्म लेकर उनके पूज्य और उपास्य बनरहे थे। किसी न किसी चमत्कार दिखलाने वाले और "मुँह मांगी मुराद देने वाले" और "पहुंचे हुए" बाबा का नित नया आविर्भाव होता रहता था। स्वार्थी और अर्थलोलुप पाधा पुरोहित मूढ़ जनता को जिस प्रकार चाहते थे, बन्दर के समान नचाते थे। इन टकापन्थियों ने 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्' की कल्पित श्रुति की दुहाई सर्वत्र फेर रक्खी थी और परिणामतः सर्व साधारण के लिये संस्कृताध्ययनका द्वार बिलकुल बन्द कर रक्खा था। धार्मिक जगत् में अनोखी अन्धेर गर्दी मची हुई थी।

इस घोर अविद्यान्धकार की काली रात्रिमें कबीर, दादूदयालनानक आदि सुधारक भक्तों के रूप में कभी कभी कोई२ ताराएँ कुछ चमक दिखाजाती थीं। पर उनके अनुयायी शीघ्र ही उनको साक्षात् ब्रह्मरूप से आराध्य देव का पद देकर और उनके "ग्रन्थ साहबों" की षोडशोपचार पूजा प्रचलित कर के उनके दिखलाए उजियाले को धुन्धला देते थे। श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित धर्म का उनके सांप्रदायिकों से कुछ भी संबंध नहीं था। उनके बड़े बड़े महन्त भी संस्कृत वाणी से शून्य रहते थे। ऐसे निविडान्धकार के समय में किसी ऐसे सरस्वती के वर

पुत्र भक्त शिरोमणि के शशि (चन्द्रमा) रूप में उदय की आवश्यकता थी, जो संस्कृतानभिज्ञ जनता की ही मातृभाषा में श्रुति स्मृति पुराणोक्त धर्म का प्रकाश फैला सके। करुणा-वरुणालय परम पिता के अनुग्रह से हिन्दी-कविता-व्योम के शशि तुलसी ने उस समय स्व सकललोकप्रसादक पूर्णोदय से जनता को कृतार्थ किया।

खेद है कि भारतवासियों ने अपने मान्य महापुरुषों के इतिहास के विषय में ऐसी उदासीनता दिखलाई है कि श्री तुलसीदास की प्रामाणिक जीवनी नहीं मिलती है। उनके विषय में जो कुछ भी ज्ञात है, उसका आधार प्रचलित किंवद्-न्तियाँ और उनके ग्रन्थों में के कुछ संकेत हैं। उनसे निम्न-लिखित बातें ज्ञात होती हैं।

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी बान्दा ज़िलान्तर्गत राजापुर परगना मऊ निवासी पं० आत्माराम दुबे, सरयूपारीण ब्राह्मण, के औरस पुत्र थे और वे श्रीमती हुलसीदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुवे थे। इस का प्रमाण कविवर अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना उपनाम रहिमन की इस समस्या पूर्त्ति से मिलता है—

नरतिय सुरतिय नागतिय सह वेदन सब कोय।
गर्भ लिए हुलसी फिरैं तुलसी से सुत होय॥

उनका जन्म संवत् १५८९ वै० में मूल नक्षत्र में हुआ था। उस समय की हिंदू जनता में निम्न लिखित पद्य में वर्णित विश्वास फैला हुआ था—

अथोचुरन्ये प्रथमाष्ट घट्यो,
मूलस्य शाक्रान्तिमपञ्चनाड्यः।

जातं शिशुं तत्र परित्यजेद्वा,
मुखं पितास्याष्ट समा न पश्येत् ॥

अर्थात्—मूल नक्षत्र में उत्पन्न पुत्र को पिता त्याग देवे वा आठ वर्ष तक उस का मुख न देखे। अतएव गोस्वामी जी के माता पिता ने सदा के लिये उनको त्याग दिया और वे असहाय अनाथ एक स्थान पर पड़े थे कि दैव योग से उधर एक साधु आ निकला। दयार्द्र होकर उसने उनको उठालिया और उनका यथावत् पालन पोषण किया। श्री तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका में स्वयं लिखा है।

जननी जनक तज्यौ जनम करम
बिन विधि हूं सिरज्यौ अवडेरे।

गोस्वामी जी की बाल्यावस्था उसी साधु की संगति में स्थान शूकर क्षेत्र में (जिस का पुराना नाम उकल क्षेत्र था और जो अब सोरों कहलाता है) बीती। इसी साधु की संगति में रहकर उन्हों ने रामायण की कथा भी सुनी थी जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु सूकर खेत।
समुझि नहीं तसु बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

(रामायण)

श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ।
किमि समुझै यह जीवजड़ कलि मल ग्रसित विमूढ॥
तदपि गुरू कहि बारहिंबारा, समुझि परी कछु मतिअनुसारा।

रामचरित मानस आदिकाण्ड॥

श्री तुलसी दास जी उसी साधु क शिष्य थे जिस ने उन्हें जन्म से पाला पोसा था उस साधु का नाम श्री नरहरिदास या नरसिंह दास था जैसा कि रामायण के आदि में गोस्वामी जी लिखते हैं कि—

"वन्दौं गुरु पद कञ्ज कृपासिन्धु नररूप हरि।"

इस में कोई सन्देह नहीं कि गोस्वामीजी की बाल्यावस्था बड़े संकट में बीती थी। उस समय कविकुलमुकुट तुलसी-दास को दाने दाने के लिए तरसना पड़ता था। गोस्वामी जी स्वयम् कवितावली में लिखते हैं कि—

"बारेते ललात बिललात द्वार द्वार दीन जानत हौं चार फल चारि ही चनक को"

उन का तुलसीदास नाम भी उसी साधु का रक्खा हुआ है। उन का बाल्यावस्था का नाम रामबोला था। नरहरि दास साधु के साथ सारे उत्तरीय भारत में भ्रमण करके, उन्होंने संसार का अनुभव प्राप्त किया। गुरु से ही उन्होंने राम कथा सुनी और उस से ही उन के हृदय में राम भक्ति का अंकुर उग कर दृढ हुआ। बड़े होने पर वे गृहस्थ हुए और श्री दीनबन्धु पाठक की पुत्री श्रीमती रत्नावली से विवाह किया, जिस से उन के तारक नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई। वह छोटी अवस्था में ही मर गया। उन का अपनी स्त्री पर अतिप्रेम था और उस का विरह वे नहीं सह सकते थे। वह पक्की वैष्णवी थी। अपने श्वशुर दीन बन्धु पाठक के कई बार बुलाश्रा भेजने पर भी वे उसको उसके मायके नहीं भेजते थे। एक दिन जब कि गोस्वामी जी किसी घर के काम से

बाहर गए हुए थे, तब उन की स्त्री अपने भाई के साथ नैहर चली गई। घर लौटने पर उन को ज्ञात हुआ कि वह नैहर चली गई है। तब ये उलटे पाँव उसी समय ससुराल पहुंचे।

उन की स्त्री सब से मिलने भेंटने भी न पाई थी कि उसने गोस्वामी जी को देखा। उस रामभक्ति परायणा ने लज्जित हो कर ये दोहे पढ़े—

लाज न आवत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥ १॥
अस्थि चर्म मय देह मम ता में जैसी प्रीति।
तैसी जो श्री राम मँह होत न तौ भवभीति॥ २॥
जितनो हेत हराम सों, होत राम सो जोय।
चल्यो जाय वैकुण्ठ को, रोक न राखै कोय॥ ३॥

उन को सुन कर गोस्वामी जी के अन्तश्चक्षु खुल गए और वे घर बार त्याग कर वैरागी बन गए। कुछ दिनों पीछे जब उनकी स्त्री को ज्ञात हुआ कि वे काशी में हैं, तब उसने यह चिट्ठी लिख कर उन के पास भेजीः—

"कटि की खीनी कनक सी, रहत सखिन संग सोय।
मोहि फटे को डर नहीं, अनत कटे डर होय॥"

इस के उत्तर में गोसाईं जी ने लिखाः—

कटे एक रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केश।
हम तो चक्खा प्रेम रस, पत्नी के उपदेश॥

चिर काल पश्चात्, जब तुलसीदास जी वृद्धावस्था में थे, तब चित्रकूट से लौटते समय राम भजन में मग्न भिक्षाटन करते हुए अपने श्वशुर के गांव में पहुंच गए और उस के घर

घर भी भिक्षा माँगने लगे। उन की वृद्ध स्त्री ने उन्हें पहिचान लिया और बहुत यत्न किया कि गोस्वामी जी उसे साथ लेते चलें, पर जिसने सब कुछ त्याग दिया, वह स्त्री को अपने साथ कैसे रख सकता था? अन्त में स्त्री ने कहा—

"खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेल कै, अचल करौ अनुराग॥"

यह सुन गोसाईं जी ने अपने झोलेकी सब वस्तुएं ब्राह्मणों को बाँट दीं और अपनी राह ली। स्त्री भी ईश्वर में अधिक अनुरक्ता हो गई। कहा जाता है कि उन्हों ने उस को एक बार फिर देखा था पर पहिचाना नहीं।

जहाँ तक पता चलता है गोस्वामी जी लग भग २५ वर्ष की आयु में वैरागी हुए थे। उस के अनन्तर वे प्रायः तीर्थ-स्थानों में रहते थे। मथुरा, वृन्दावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट शूकरक्षेत्र (सोरों) आदि स्थानों में आया जाया करते थे और अयोध्या में अधिक रहते थे, परन्तु उन का मुख्य वास-स्थान काशी था, जहाँ उन के स्मारक बहुत से स्थानों में अब तक विद्यमान हैं यथा—

(१) अस्सी पर गोस्वामी जी का घाट

(२) गोपाल मन्दिर

(३) प्रह्लाद घाट

(४) संकटमोचन हनूमान् (नगवा के समीप अस्सी के नाले पर) गोस्वामी जी पहले हनूमान् फाटक पर रहते थे, फिर मुसलमानों के उपद्रव से गोपाल मन्दिर में चले आए। वहाँ भी वल्लभीय गोस्वामियों से विरोध हो जाने पर वे अस्सी घाट पर रहने लगे।

बनारस के एक धनी खत्री टोडरमल (अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री टोडरमल नहीं), विख्यात रहिमन कवि अब्दुलरहीम ख़ानख़ाना (संवत् १५५६ से १६२७ वै० तक) अम्बर-नरेश राजा मानसिंह (संवत् १६१४), मधुसूदन सरस्वती, नाभा दास जी और हिन्दी कविता के सूर श्री सूरदास जी से उन की मित्रता थी। टोडरमल की मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारियों में बटवारे के लिए झगड़ा हुआ था, जिसमें श्री तुलसी दास जी पञ्च माने गए थे। इस का पञ्चनामा स्वयं उन ही के हाथ का सं० १६६६ वै० का लिखा हुआ महाराजा बनारस के यहाँ अब तक रक्खा है। गोस्वामी जी का यही एक गद्य लेख मिलता है। उसका कुछ अंश निम्न लिखित है-

"मौजे भदैनी मह अंश पाँच तेहि मह अंश दुइ आनन्द राम तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितूपुरा अंश टोडरमलुक तथा नयपुरा अंश टोडरमल की हील हुज्जती नाश्ती।"

टोडरमल से गोस्वामी जी की बड़ी प्रीति थी। गोस्वामी जी ने कभी नरकाव्य (नरस्तुति) नहीं लिखा, पर टोडरमल के विषय में कुछ दोहे लिख ही दिये, जो निम्नलिखित हैं।—

चारि गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
तुलसी या संसार में, अथयो टोडर दीप ॥ १ ॥
तुलसी राम सनेह को, सिर पर भारी भारु।
टोडर काँधा ना दियो, सब कहि रहे उतारु ॥ २ ॥

तुलसी दास स्मार्त वैष्णव थे अर्थात् रामचन्द्र के उपासक होते हुए भी वे सनातन धर्म की स्मृतियों को मानते थे तथा वर्ण विभाग की प्रथा का भी सम्मान करते थे।

सं० १६७३ वि० में जहाँगीर के राज्य काल में भारतवर्ष में ताऊन महामारी (Plague) का प्रकोप हुआ और आठ वर्ष तक रहा। श्री तुलसी दास जी को भी यह रोग हुआ था, जैसा कि वे स्वलघुरचना हनुमान् बाहुक में स्वयं वर्णन करते हैं। यथा

आपने ही पाप तें त्रितापतें कि साप तें,
बढ़ी है बाँह बेदन सही न कही जाति है।
औषध अनेक जन्त्र मन्त्र टोटकादि किए,
बादि भये देवता मनाए अधिकाति है।
करतार भरतार हरतार कर्म काल को है,
जगजाल जो न मानत इताति हैं॥
चेरो तेरो तुलसी तु मेरो कहो रामदूत,
ढील तेरी बीर मोहि पीर न पिराति है॥ १॥

कवितावली, हनूमान बाहुक कवित्त ३५४

कुछ स्वस्थ होने के अनन्तर फिर रोग का आक्रमण हुआ, जिस से उन्होंने सं० १६८० में काशी में इस विनश्वर शरीर को त्याग दिया।

कहते हैं कि तुलसीदास जी का अन्तिम दोहा यह है—

राम नाम जस बरनि कै, भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए अब ही तुलसी सोन॥

इनकी मृत्यु के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

" संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुकला सत्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥

अनेक छोटी २ कविताओं के अतिरिक्त २० से अधिक ग्रन्थ तुलसीदास जी की कृति बतलाए जाते हैं। उन में से १२ ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं जिन में ६ छोटे और ६ बड़े हैं। ६ बड़े ग्रन्थ ये हैं-

(१) कृष्णगीतावली (२) विनय पत्रिका (३)गीतावली (४) कवितावली (५) दोहावली (६) रामचरितमानस।

रामचरितमानस (रामचरित्र का सरोवर) तुलसीकृत रामायण के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति यही ग्रंथ है और समय के अनुसार यही पहिला ग्रन्थ है जो संवत् १६३१ वै० में अपनी ४३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया था। इसी पर उनकी ख्याति निर्भर है। कविवर तुलसीदास ने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की जीवनलीला की पुण्यगाथा का अवलंब लेकर अपने रामचरितमानस को "नानापुराणनिगमागम" के साररूप 'अतिमंजुल' अमृत से भर कर अज्ञानविष से मूर्च्छित और मुमूर्षु जनता के संजीवन के लिए प्रस्तुत कर दिया, जिस को पान करके उस में धर्मजीवन का पुनः संचार हो गया। भाषा शास्त्र के महाविद्वान डाकृर सर जी० ए० ग्रियर्सन श्रीतुलसीदास जी के विषय में अपने भारतवर्षीय साहित्य के इतिहास में लिखते हैं।

"The importance of Tulsidas in the History of India cannot be overrated. Putting the literary merits of his Ramayan out of question, the facts of itsuni versal exceptance by all classes from Bhagalpur to the Punjab and from the Himalayas to the Narmada is surely worthy of note. The book is in every one's hands from the court to the cottage, and

is read or heard, and appreciated alike by evry class of the Hindu community, whether high or low, rich or poor, young or old. It has been interwoven into the life, character and speech of the Hindu population for more than three hundred years, and is not only loved and admired by them for its poetic. beauty, but is revered by them as their Scriptures. The religion, he preached, was simple and sublime one—a perfect faith in the name of God."

"Tulsidas was the great preacher of one's duty towards one's neighbour. Valmiki praised Bharat's sense of duty, Lakshman's brotherly affection, and Sita's wifely devotion, but Tulsi taught them as an example."

"We judge of a prophet by his fruits, and I give much less than usual estimate when I say that fully ninety millions of people have based their theories of moral and religious conduct upon his (Tulsi Das's) writings. If we take the influence exercised by him at present time as our test, he is one of the three or four great writers of Asia". J.R.A. Society. July 1903. Article 16. pp. 455.

"I do not think that there can be any doubt as to its reputation being deserved. In its own country it is supreme over all other literatures, and exercises an influence, which it would be difficult to describe

in exaggerated terms. J. R.A. Society 1903. pp.451

Over the whole of the Ganjetic Valley his great work (The Ramayan) is better known than the Bible is in England. Ibid. pp. 459."

भावार्थ-"भारतवर्ष के इतिहास में तुलसीदास की महत्ता के विषय में इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। साहित्य की दृष्टि से रामायण के गुणों को एक ओर रख कर यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ यहाँ की सर्व जातियों द्वारा अङ्गीकृत है। पंजाब से भागलपुर तक और हिमालय से नर्मदा पर्यंत उसका प्रभाव है। वह राजा के महल से लेकर झोंपड़ी तक प्रत्येक मनुष्य के हाथों में देखी जाती है, और हिन्दू जाति के प्रत्येक वर्ण द्वारा, चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो अथवा वृद्ध, एक रूप से पढ़ी सुनी जाती और आदृत होती है। वह हिन्दू जनता के जीवन, भाषा और चरित्र में प्रायः तीन सौ वर्ष से ओत प्रोत है और केवल अपने कवितागत सौंदर्य के लिए ही आदर तथा प्रेम नहीं पाती है, वरन् यह उन से पवित्र धर्म पुस्तक की भाँति सम्मानित होती है। जिस धर्म का उस ने प्रचार किया है, वह सादा और उच्च है, एवं ईश्वर के नाम के पूर्ण विश्वास पर निर्भर है।"

"मनुष्य का अपने पड़ोसी के प्रति क्या कर्तव्य है, तुलसीदास इसके बड़े प्रचारक थे। वाल्मीकि जी ने भरत जी की धर्म परायणता, लक्ष्मण जी के भ्रातृप्रेम और सीता जी के स्त्री-धर्म की प्रशंसा की थी, किन्तु तुलसीदास ने उन्हें आदर्श बना कर दिखला दिया है।"

एक दूसरे स्थान पर यही महोदय लिखते हैं।

"भारतवर्षीय धर्मोन्नति के इतिहास में जो आसन तुलसीदास जी को प्रदान किया जाता है, उस से कहीं उच्चतर आसन के वे अधिकारी हैं, क्यों कि हम लोग धर्म प्रचारक की श्रेष्ठता की अटकल उस के कार्यफल से लगाते हैं। यह कहने में कि ठीक नौ करोड़ मनुष्य उन के लेखों पर ही अपने धर्म तथा सदाचार के तत्वों को स्थापित किए हुए हैं, हम सामान्य गणना से बहुत ही कम अनुमान करते हैं। वर्तमान काल में इनकी रचनाएं लोगों पर जो प्रभाव दिखाती हैं, यदि हम लोग उसी से जाँच करें तो यह महाशय एशिया के तीन या चार बड़े बड़े लेखकों में से एक हैं।"

"इस (रामायण) की सुख्याति पर्याप्त होने में तनिक भी संदेह नहीं है। अपने देश में इस ने सब ग्रंथों पर प्राधान्य लाभ किया है और सर्व साधारण पर इसका ऐसा प्रभाव पड़ रहा है कि उसे बढ़ा चढ़ा कर कहना कठिन कार्य है।

इंगलैंड में जितना बाइबिल का प्रचार है, उस से कहीं अधिक बंगाल और पंजाब एवं हिमालय और विंध्य के मध्यस्थ प्रदेशों में इस महान् ग्रंथ का प्रचार पाया जाता है।"

श्रीमान् स्वामी सत्यदेव जी ने उन के विषय में लिखा है-

"जैसे 'अंकिल टाम्स कैबिन' का उपन्यास उत्तरीय तथा दक्षिणी अमेरिका में हबशी गुलामों का वाणिज्य रोकनेका कारण हुआ जैसे हाल ही में अप्टन सिंक्लेयर के बल से शिकागो के क़साई घर का सुधार हुआ, रूसो एमिली ने स्वलिखित उपन्यास द्वारा शिक्षा के प्राचीन ढंग का प्रचार किया, जैसे इटली की स्वतंत्रता प्राप्ति का कारण गिबन-कृत "रोमन राज्य का उत्थान और पतन" नामक ग्रंथ हुआ, जैसे अगणित उपन्यासों द्वारा ईसाई धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई वैसे ही

गोस्वाईं जी की रचनाओं ने शैव तथा वैष्णवों के परस्पर द्रोह, एवम् रामोपासक तथा कृष्णोपासक के परस्पर वैमनस्य और रागद्वेष को दूर कर हिंदू धर्म की श्रेष्ठता पूर्ण रूप से प्रतिपादित कर देश को महान् लाभ पहुंचाया।"

आधुनिक कविशिरोमणि श्री पं० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय हरि औध अपनी विशेष मनोरम भाषा (गद्यकाव्य) में लिखते हैं—

"उसकी पूत लेखनी के स्पर्श से सरसता पवित्रीभूत हुई, मधुरता स्वर्गीय मन्दाकिनी बनी, व्यञ्जना में मानवता व्यंजित हुई, ध्वनि में धर्मधुरन्धरता ध्वनित हो पड़ी, और कविता में लोकहितकारिता सुरसरिता की पवित्र धारा प्रवहित होने लगी। उसकी प्रतिभा भगवती भारती की कमनीय कीर्त्ति है, सुरुचि मालिका की कलित कुसुमावली है, मानसिक-महत्ता-मनोरम-कमल-कलिका को विकास किया है और भावभव्यताकान्त-कादंबिनी की निर्मल सलिल धारा है। वह उस रामचरितमानस का रचयिता है, जो सत्साहित्य का सर्वस्व, लोकोत्तरचरित का भण्डार, महान् आदर्श का आदर्श, मानवीय महत्व का निदर्शन, और पुनीत कार्य-कलापपयोधि का धीर प्रवाह है वह मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र की मर्यादाशीलता से मर्यादित है, पतिप्राणा विदेहनन्दिनी के प्रसिद्ध पातिव्रत प्रसङ्ग से प्रतिष्ठा प्राप्त है, भारतभूमिभूषण महाप्राण भरत की महाप्राणता से महाप्राणित है, और तेजस्वितामूर्त्ति सुमित्रा सुवन की चकितकरी तेजस्विता से तेजःपुञ्ज-कलेवर है। उसमें सत्यव्रत महाराज दशरथ जैसे आदर्श पिता का, नितान्त तरलहृदया औदार्यमयी कौशल्या जैसी आदर्श माता का, आत्मोत्सर्गव्रतरता सुमित्रा देवी जैसी आदर्श सपत्नी

का, लोकोत्तर प्रेम परायण पूजनीया जनकजी जैसी आदर्श पत्नी का, आत्मत्याग मंत्र के प्रसिद्ध देवता भरत और सुमित्राकुमार जैसे आदर्श भ्राता का, और सेवा समान कठोर कर्म के कर्मठ व्यक्ति पवनकुमार जैसे आदर्श सेवक का उदात्त चरित बड़ी ही ज्वलन्त भाषा में बहुत ही निपुणता के साथ वर्णित है। वृद्ध विवाह का क्या बुरा परिणाम होता है, स्त्री-वश्यता कितनी अनर्थमूलक है, कुटिला दासी सोने के संसार को कैसे धूल में परिणत करती है, भ्रातृविरोध एक विशाल राज्य को भी कैसे भस्मी भूत करता है, सर्वलोक विजेता होने पर भी एक अत्याचारी नृपति का किस प्रकार अचानक अधः-पात होता है, ये बातें इस ग्रन्थ में ऐसी शिक्षाप्रद रीति से अङ्कित हैं, कि उनका पठन और मनन एवं उनसे समुचित उपदेश ग्रहण करके एक अनुन्नत समाज भी उन्नत हो सकता है, और एक पतनप्राय देश भी विनाश गर्त में निपतित होने से बच सकता है। परम्परागत आर्य सभ्यता का जो उद्देश है, आर्य जाति की हृदय वीणा का जो अत्यन्त प्रिय मधुर निनाद है, उसका चिर अर्जित ज्ञान-आलोक, जो संसार को आलो-कित करने का मूलमन्त्र है, उसका वह उच्च विचार जो प्राणि-मात्र पर सुधावर्षण करता है, उसका वह आत्म-उत्सर्ग मूलक प्रेम जो जीवमात्र का जीवन सर्वस्व है, उसका वह उदारभाव जो भावुकता देवी का हृदय विलम्बी रत्नहार है, उसका वह अद्भुत ईश्वरीय संगीत, जो आज भी जगत को विमुग्ध बना रहा है, यदि आप ढूंढेंगे तो सांगोपांग इसी ग्रन्थरत्नमें पावेंगे।

भारतीय हृदय में रामायण की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि बहुत से लोग तो रामायण ही पढ़ने के लिये हिन्दी लिखना पढ़ना सीखने लगे। गोस्वामी तुलसीदास जी संसार में भक्ति

सुरसरिता के बहाने वाले भक्त शिरोमणि ही नहीं है, वरन इन की टक्कर के प्रतिभाशाली कवि भी बहुत थोड़े निकलेंगे।

उनके रामचरितमानस की प्रतिष्ठा हिन्दी के महाकाव्य धर्मग्रन्थ के रूप में सर्वातिशायी होकर भारत व्यापिनी बनी हुई है। उसको ६ करोड़ मनुष्यों की बाइबिल कह सकते हैं, और वस्तुतः उत्तरीय भारत के प्रत्येक हिन्दू को इसका जितना ज्ञान है उतना मध्यकक्षा के अंग्रेज़ किसान को बाइबिल का भी नहीं है। भारत का एक भी हिंदू प्रासादविहारी राजा या कुटीरनिवासी रङ्क ऐसा न होगा, जो इसके प्रचलित दोहों को न जानता हो या जिसकी बात चीत में इसका रंग न हो। भारतीय मुसलमानों तक की भाषा में इसकी उपमायें घुलगई हैं।

इसका विषय वही है जो वाल्मीकि के प्रसिद्ध संस्कृत रामायण का है, पर तुलसीदास का ग्रन्थ उसका किसी प्रकार अनुवाद नहीं है। उसी घटना पर नई कथा रची गई है पर घटनाओं के वर्णन तथा महत्व के विवरणों में भिन्नता है, जैसे कि लंका के बाहर की बड़ी लड़ाई का वर्णन भिन्न है। ग्रन्थ-कर्त्ता स्वयं लिखते हैं कि उन्होंने यह चरित्र अनेक ग्रन्थों से लिया है। उनमें से वाल्मीकि की कृति को छोड़ कर मुख्य ग्रन्थ अध्यात्मरामायण (ब्रह्माण्डपुराण का एक खण्ड), भुशुण्डिरामायण, वशिष्ठसंहिता, और कवि जयदेव कृत प्रसन्नराघव नाटक मुख्य हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी सुधारक थे, उस समय की स्थिति से उन्हें असन्तोष था और उन्हें विश्वास भी था कि किसी समय फिर अच्छे दिन आयेंगे और तब सब लोग, अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे, और भक्तिसे अपने हृदयों को शुद्ध करेंगे। रामायण के उत्तरकाण्ड में उन्होंने जो राम-राज्य

का वर्णन दिया है, उससे विदित होता है कि वे अच्छे राज-नीतिज्ञ भी थे, उनके राजत्व का आदर्श बहुत ऊँचा था। वे अपने कर्तव्यों और लेखों से उस हिन्दू जाति में राजकीय जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न करते थे, जिसके राजनैतिक जीवन का ह्रास हो चला था। रामायण के प्रत्येक काण्ड में कुछ न कुछ राजनीति का वर्णन उन्होंने कर ही दिया है। इस से ज्ञात होता है कि वे एक प्रकार के राजनैतिक सुधारक भी थे। यहाँ पर रामराज्य के वर्णन में से थोड़ासा अंश दिया जाता है, जिससे इस बात का परिचय मिलेगा कि वे अच्छा राज्य किसे समझते थे।—

"बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई॥
बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहि भय शोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा,
रामराज नहिं काहुहि व्यापा।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा,
सब सुन्दर सब निरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना,
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।
सब निरदम्भ धरमरत पुनी,
नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी,

सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ।
एक नारि व्रत रत सब झारी,
ते मन वच क्रम पति हितकारी ॥
फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन,
रहहिं एक संग गज पंचानन ।

अयोध्याकाण्ड में रामराज्याभिषेक कराने के लिये गोस्वामी जी ने महाराज दशरथ से कहलाया है कि—

जो पाँचहि लागइ मत नीका,
करहु हरषि हिय रामहिं टीका ।

इससे उनकी प्रजा-तन्त्र-प्रियताका पूर्णपरिचय मिलता है।

इसके अतिरिक्त वे सामाजिक सुधारक भी थे। रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी का जो चित्र उन्होंने स्थान स्थान पर खींचा है, उससे स्पष्ट विदित होता है कि वे समाज सुधारक थे। निषाद गुह से भी श्री रामचन्द्रजी का सहज सनेह था। वनकाण्ड में भगवान् के श्रीमुख से गोसाईं जी ने शबरी के सन्मुख कहा ही दिया कि—

मानौं एक भगति कर नाता।
जाति पांति कुल धरम बड़ाई,
धन बल परिजन गुन चतुराई।
भगति हीन नर सोहै कैसे,
बिनु जल बारिद देखिय जैसे ॥

गोस्वामी जी के विषय में जो अनेक आख्यायिकाएँ प्रचलित हैं उन से ज्ञात होता है कि उनका जीवन समाजसेवा और देशसेवा का आदर्श था। बहुत से दीनों को वे धन द्रव्य दिला.

दिया करते थे, बहुतों को दुःखों से बचाते थे और बहुतों की औषधि इत्यादि द्वारा चिकित्सा किया करते थे, तथा अगणित लोगों को अपने उपदेशों से तृप्त करते थे। गोस्वामी जी उन मनुष्यों में से नहीं थे जो केवल मौखिक उपदेश दिया करते हैं प्रत्युत वे स्वयं पूर्ण धर्मात्मा थे। वे उन थोड़े से मनुष्यों में से थे जिन के लिए उन्होंने लिखा है कि "जो आचरहिं ते नर न घनेरे।"

धार्मिक सुधार तो बराबर उनका लक्ष्य ही रहा है। उन्होंने कोई पंथ चलाने का यत्न नहीं किया वरन उस समय के वर्तमान ग्रंथों और संप्रदायों में मेल कराने का उद्योग करते रहे। शैवों और वैष्णवों में पहिले बहुत विरोध रहा करता था पर अब प्रायः शान्त होगया है। इसका कारण गोस्वामी जी की रामायण का प्रचार है। रामायण में स्थान स्थान पर उन्होंने शिवको रामका आराध्य और रामको शिवका आराध्य कहा हैं इससे विदित होता है कि गोस्वामी जी में धार्मिक एकता का भाव विद्यमान था। माध्यमिक कालके अन्य सुधारकों के समान वे भी भक्ति की शिक्षा को प्रधान् रखते थे। जन साधारण की मति तत्वज्ञान पर नहीं टिक सकती। जनता को भक्ति तथा श्रद्धा के उपदेश की अधिक आवश्यकता रहती है। अतः वे भक्ति को ज्ञान से बढ़ कर समझते थे।

उनका उद्देश्य विद्वानों से प्रशंसा पाना न था। वे अपनी बातों को प्रत्येक स्त्री पुरुष तक पहुंचाना चाहते थे। उन्होंने अपने देश बन्धुओं की भाषा में अपनी कविताएँ लिख कर उन के हृदयों को जीत लिया है। इस प्रकार वे शिक्षा पद्धति के भी सुधारक कहे जा सकते हैं। उनके उद्योग से धर्म और ज्ञानकी शिक्षा संस्कृत के पण्डितों तक ही सीमित नहीं रह गई, वरन

हिन्दी भाषी संसार में भी उसकी पहुंच होगई। जिस समय तुलसीदास अपनी रामायण हिन्दी में लिख रहे थे, उस समय बनारस के पण्डितों ने आक्षेप किया, पर गोस्वामी जी ने कहा कि—

"का भाषा का संसकिरत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का ले करै कमांच ॥ १ ॥
हर हरि जस सुर नर गिरा, बरनहिं संत सुजान ॥
हांडी हाटक चारु चिर, रांधे स्वाद समान ॥ २ ॥

रामायण को हिन्दी में लिखने के कारण हिन्दी भाषियों की अनन्त पीढ़ियों की कृतज्ञता श्री तुलसीदास जी को मिलनी चाहिए।

इस प्रकार भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी अपने समय के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और शिक्षा सुधारकों में अग्र-गण्य थे।

गोस्वामी जी की कविता के विषय में जो कुछ लिखा जाय थोड़ा है। उनके भावों की निर्मलता, भाषा की सरलता और मधुरता, तथा उनकी रचना की सुघड़ाई ऐसी हृदय हारिणी है कि वह बालक से लेकर वृद्ध तक के मन को मोहे बिना नहीं रह सकती। उनके प्रत्येक पद्य, चौपाई और दोहे से भक्ति-भाव छलका पड़ता है। जहाँ कहीं नीति का विषय है, वहाँ ऐसा भासित होता है कि गोस्वामी जी नीति की साक्षात् मूर्त्ति हैं। जहाँ शृङ्गार की छटा है, वहां ऐसा ज्ञात होता है कि भक्त-शिरोमणि तुलसीदास जी ने कभी शृङ्गार के समुद्र में भी भर-पेट डुबकियां लगाई थीं। जहाँ गृहस्थों के कर्म कलापका वर्णन

है, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि कवि महाराज कर्मठ गृहस्थ हैं, जहाँ युद्ध का दृश्य है वहाँ ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी बड़े वीर योद्धा और रणबाँकुरे थे। उनके वैराग्य के वर्णन को पढ़ कर यह अनुमान होने लगता है कि वे संसार को कुछ जानते ही न थे। उनके काव्य में ऐसा रस और प्रसाद गुण है कि आज तक उनकी सरस्वती-चौपाइयाँ और दोहे—आबाल-वृद्धवनिता, राजा से लेकर रङ्क तक और बड़े ब तत्व-ज्ञानियों से लेकर ठेठ ग्रामीणों तक, सब मनुष्यों की जिह्वा पर नाचती है। वे जो हिन्दी कविता के आकाश के शशि प्रसिद्ध हैं उस पद के वे पूर्ण रूप से अधिकारी हैं। वे भारत के राष्ट्रीय कवियों के सिरमौर मानेजायँ तो इसमें कुछभी अत्युक्ति न होगी।

अन्त में यह निबन्ध कवि शिरोमणि श्री हरिऔध जी के मनोहर वर वाक्यविन्यास के साथ समाप्त किया जाता है।

"जब तक संसार में ज्ञान पिपासा रहेगी, सदुपदेश का समादर होगा, आदर्श चरित लोक-हृदय को प्रफुल्ल करेंगे, मर्यादा समादृत होगी, आत्मोत्सर्ग का महत्व समझा जायगा और पवित्र आर्यसभ्यता धरातल को पावन करती रहेगी, उस समय तक गोस्वामी जी मानव हृदय के उच्चासन पर विराजमान रहेंगे और उनका लोकोत्तर रामचरित मानस गौरव की दृष्टि से देखा जायगा। सत्कवि और सत्कविता यदि संसार में अजर अमर नहीं है तो फिर नश्वर संसार में अजर अमर का प्रश्न ही व्यर्थ है।"

प्रत्येक भारतवासी और प्रत्येक धर्मावलम्बी और विशेषतः प्रत्येक हिन्दी भाषा भाषी को गोस्वामी तुलसीदास जी के अस्तित्व का अभिमानी होना चाहिए और उनके स्वर्गारोहण दिवस को उनके स्मरण और कीर्त्तिगान में बिताना चाहिए।

पद्धति ।

श्री तुलसी जयन्ती के गृह्य तथा सामाजिक कृत्य भी श्रीरामजयन्ती में लिखित विवरण के अनुसार ही हैं। उसमें इतनी अधिकता और हो सकती है कि उस दिन रामचरितमानस के विशेष २ उत्तम स्थलों का पारायण किया जाय।

तुलसीदास ।

(१)

देख कर सहसा हमारी साधना म्रियमाण,
जिस कमण्डलु के अमृत से थे बचाये प्राण ।
वह तुम्हारे हाथ में था साधु तुलसीदास,
जी उठी फिर भावना, दृढ़ हो गया विश्वास ॥

(२)

जब तमोमय शून्य में भय-दृश्य थे सब ओर,
जब अज्ञानों की घटायें कर रहीं थीं घोर ।
तब तुम्हीं ने था किया मानस-सरोज विकास,
कवि कहें या रवि तुम्हें हे अमर तुलसीदास ॥

(३)

हो गया जब आदि कवि का मार्ग दुर्गमनीय,
सुगम तुम ने ही किया करके उसे कमनीय ।
मुक्त जीवन-धन लिये हो जायँगे हम पार,
देखता रह जायगा संसार—पारावार ॥

(४)

रम्य राम चरित्र भी तुमसे हुआ कृतकार्य,
आर्द्र होते हैं जिसे सुन आर्य और अनार्य ।
काव्य से इतिहास हैं इतिहास से हैं तन्त्र,
तन्त्र से फिर हैं तुम्हारे वाक्य वैदिक मन्त्र ॥

(५)

पैठ संस्कृत सिन्धु में पाये जहाँ जो रत्न,
ग्रथित करने में उन्हें करके अलौकिक यत्न ।
हार जो तुमने दिये इस देश को उपहार,
कर सकेगा कौन उनके मूल्य का निर्धार ॥

(६)

प्रस्फुटित करके हमारा पुण्य पूर्णादर्श,
हृदय को तुमने दिया है अमृत हस्त स्पर्श ।
राम राजा ही नहीं पूर्णावतार पवित्र,
पर न हमसे भिन्न है साकेत का गृहचित्र ॥

(७)

है हमारे अर्थ बस आदर्श ही आराध्य,
और साधन भी उसी का है हमारा साध्य ।
जो हमारे सामने करदे उसे प्रतिभात,
है वही तुम सा हमारा विश्व–कवि विख्यात ॥

(८)

प्रकृति-पट पर धन्य वह अन्तर्जगत् का दृश्य,
धन्य वह संगीतमय सत्काव्य हृदय स्पृश्य ।
धन्य भारतवर्ष का प्रतिभा–प्रकाश–विलास,
धन्य रामचरित्रमानस धन्य तुलसीदास ॥

(कविवर श्री मैथिली शरण गुप्त कृत)

विरजानन्द निर्वाण

आश्विन बदि त्रयोदशी

आज आर्ष व्याकरण सूर्य का मथुरा में था अस्त हुआ।
वैदिक ज्योति जहाँ से पा मुनि दयानन्द सुप्रशस्त हुआ॥
उस व्रजमण्डल के सूरज से आर्ष ग्रन्थ सुप्रकाश हुआ।
सकल जगत् का पढ़ कर जिनको सुविपुल बुद्धिविकास हुआ॥
दिङ्मण्डल में नाम उसी का विरजानन्द समृद्ध हुआ।
चर्म चक्षु वञ्चित होने से प्रज्ञाचक्षु प्रसिद्ध हुआ॥

(श्री सिद्ध गोपाल कविरत्न)

सुरवाणी साहित्य के आर्ष और अनार्ष ये दो भाग माने जाते हैं। आर्ष ऋषि प्रणीत ग्रन्थों को कहते हैं और अनार्ष ऋषियों से इतर विद्वानों की कृतियाँ कहलाती हैं। आर्ष ग्रन्थ वेद से लेकर लौकिक विद्याओं पर्यन्त सब विषयों पर विद्यमान हैं। अधिकांश अनार्ष ग्रन्थ भी आर्ष ग्रन्थों का अवलम्ब लेकर बनाए गए हैं वा वे आर्ष ग्रन्थों की व्याख्या मात्र हैं। प्राचीन काल में आर्ष ग्रन्थों के ही पठनपाठन का प्रचार था। तत्पश्चात् उनकी व्याख्याओं की आवश्यकता होने पर तत्सम्बन्धी अनार्ष ग्रन्थ लिखे गए, और आर्ष और अनार्ष दोनों प्रकार के ग्रंथों को मिला कर अध्ययनाध्यापन का क्रम चलता रहा। किन्तु कुछ काल से मूल आर्ष ग्रन्थों के पढ़ने पढ़ाने की परिपाटी

लुप्त प्राय हो गई थी। मनुष्य अनार्ष आधुनिक ग्रंथों के पठन पाठन में ही प्रवृत्त रहते थे। आर्ष ग्रंथों के नाम तक सर्वसाधारण को विस्मृत हो चले थे। सब विषयों में प्रवेश कराने वाले वेदांगों के मुख व्याकरण की भी यही अवस्था थी। महर्षि पाणिनिप्रणीत अष्टाध्यायी और महामुनि पतंजलि प्रणीत उसके महाभाष्य को पढ़ने का सौभाग्य विरले जनों को ही प्राप्त होता था। सामान्यतः सारा विद्यार्थिवर्ग सारस्वत चन्द्रिका, मुग्धबोध, सिद्धान्तकौमुदी, शेखर, मनोरमा, व्याकरणभूषण आदि अनार्ष ग्रन्थों में ही रत रहता था। कई प्रांतों में तो पाणिनीय व्याकरण को कोई स्पर्श तक न करता था। बङ्ग प्रदेश में मुग्धबोध और कातन्त्र आदि नवव्याकरण ग्रंथों का ही सर्वत्र प्रचार था और पंजाब प्रान्त में सारस्वत चन्द्रिका बोल बाला था। केवल काशीविद्यापीठ में पाणिनिव्याकरण का प्रचार था किंतु वहाँ के व्याकरण विशारद पण्डित भी वृत्ति तथा टीका ग्रन्थों के पाठन में ही अपने पाण्डित्य की पराकाष्ठा समझते थे। मूल पाणिनीय अष्टाध्यायी के वैदिक और लौकिक व्याकरण में उनका प्रवेश न होता था। पाणिनीय व्याकरण की जो यह विशेषता है कि उस में वैदिक और लौकिक प्रयोगों की साधना साथ २ चलती है उस से आधुनिक विद्वान् निरे कोरे रहते थे। भारतीय वैयाकरणों के गौरवधन पाणिनीय अष्टाध्यायी और पातञ्जल महाभाष्य का नाम ही लुप्त होने को था। कैसे खेद की बात थी कि गोल्डस्टकर (Theodore goldstucker) आदि विदेशी विद्वान् तो पाणिनि की, शब्द शास्त्र के सागर को गागर में स्थापित करने वाली, अष्टाध्यायी पर मोहित थे, किंतु भारतीय अपने इस अमूल्य रत्नराशि के कोष से अनभिज्ञ रहते थे। परन्तु परमपिता परमात्मा को कुछ

भारत की इस असीमसंपत्ति का लोप अभिमत न था। उस ने उस के प्रचार के लिए एक प्रज्ञाचक्षु महात्मा की इस भूमि पर अवतारणा की।

पञ्जाब प्रान्त की वसुन्धरा केवल वीर प्रसविनी ही नहीं है प्रत्युत वह सिद्ध सारस्वतों की भी जननी है। उसीमें बहने वाली पुण्य सलिला सरस्वती के तीर पर आसीन होकर वैदिक ऋषियों ने पवित्र वेदों की ऋचाओं का गान किया था। व्याकरण विद्या के विवस्वान् महर्षि पाणिनि की ज्योति भी पंजाब के वर्तमान रावलपिण्डी ज़िलान्तर्गत शालातुर ग्राम से ही चमकी थी। उसी ग्राम के वासी होने के कारण महर्षि पाणिनि का नाम शालातुरीय पड़ा था। साहित्य शास्त्र के आकर ग्रन्थ काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मट की जन्मभूमि काश्मीर भी पंजाब में ही है। उसी पंजाब प्रांत के करतारपुर नामक प्रसिद्ध नगर के समीपवर्ती वोईनदीतीरस्थ गंगापुर ग्राममें पञ्जाबकेसरी महाराजा रणजीतसिंह के राजत्वकाल में संवत् १८३५ वि० के निकट सारस्वत ब्राह्मण शारदाशाखीय तथा भारद्वाज गोत्रीय पण्डित नारायणदत्त के औरस पुत्र का जन्म हुआ था। किसको ज्ञात था कि यह पुत्र रत्न पृथिवी की काया पलटने के लिये बीज का काम देगा और कौन जानता था कि नारायणदत्त का नाम इतिहास के पन्नों में अङ्कित होगा। यद्यपि गंगापुर ग्राम इस समय वोई नदी के गर्भ में विलीन होगया है–उसके प्रवाह पूर से प्रनष्ट होगया है, तथापि पं० नारायणदत्त के दारक की कीर्त्ति अब भी दिग्व्यापिनी हो रही है। इस बालक के बाल्यकाल की कथा के विषय में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है कि पाँच वर्ष की आयु में उस पर भयानक शीतला रोग का [illegible] हुआ था और उस से उसके

चर्मचक्षुओं की बाह्यदृष्टि नष्ट होगई थी। आठ वर्ष की आयु में पिता नारायणदत्त ने अपने अन्धे बालक की मौखिक शिक्षा प्रारम्भ की और वह उसको सारस्वत व्याकरण पढ़ाता रहा। किन्तु इस चक्षुविहीन बालक के भाग्य में माता पिता की छत्रच्छाया न बदी थी। परिणामतः उसको माता पिता के मृत्युवश होने के कारण १२ वर्ष की आयु में अपने ज्येष्ठ भ्राता का मुखापेक्षी बनना पड़ा। भारत के उस नैतिक अधःपतन के काल में भ्राता वैरी के रूप में और भावज का शब्द कष्टदायिनी के अर्थ में बदल चुके थे। अनाथ अन्धे बालक से भाई और भावज का प्रतिदिन का दुर्व्यवहार न सहा गया और वह घर छोड़ कर नाना क्लेश भोगता और भिक्षाटन करता हुआ १५ वर्ष की आयु में हृषीकेश आ पहुंचा। हृषीकेश उस समय आज कल के समान घनी बस्ती और सुरक्षित स्थान न था, चारों ओर हिंस्र जन्तु अपनी भयङ्कर गर्जना से निर्जन वन को प्रतिध्वनित करते रहते थे। किन्तु यह ईश्वराश्रित वीर बालक ऐसे भयानक स्थान में गायत्रीजाप आदि कठोर तपस्या करता रहा। इसी प्रकार तप करते हुए जब उसको तीन साल बीत गए तब एक रात्रि को उससे स्वप्न में किसी ने यह कहा कि जो कुछ तुमको यहां होना था वह हो गया अब तुम यहां से चले जाओ। इस दैवी प्रेरणानुसार अंध युवक उस स्थान को त्याग कर अठारह वर्ष की आयु में हरिद्वार पहुंचा। वहाँ एक विद्वान् गौड़स्वामी पूर्णाश्रम ने उसने संन्यास दीक्षा ग्रहण की और उसका नाम विरजानन्द रक्खा गया। संन्यास लेकर विरजानन्द अपने दीक्षागुरु से विद्याभ्यास करते रहे। हरिद्वार में ही रह कर उन्होंने एक विद्वान् से मध्यकौमुदी का षड्लिंग पढ़ा और स्वयं भी विद्यार्थियों को पढ़ाते

रहे। फिर वे कनखल में रह कर सिद्धांत कौमुदी पढ़ते रहे। इस समय उनकी धारणाशक्ति अतीव प्रबल होगई थी और कवित्व शक्ति भी जाग उठी थी। तभी उन्होंने रामस्तोत्र के पद्यों की रचना की थी।

उन्हीं दिनों अलवर-नरेश विनय सिंह जी सोरों में गङ्गा-स्नानार्थ आए थे। उसी समय विरजानन्दजी गंगा में खड़े हुए शङ्कराचार्य कृत विष्णुस्तोत्र का पाठ कर रहे थे। महाराज उनकी सुललित वाणी को सुन कर और उनकी तेजोदीप्त गम्भीर मुख-श्री को देखकर मोहित होगए। स्तोत्र समाप्ति पर महाराज ने उनसे भेंट की और बहुत अनुनय विनय करके वे उनको इस प्रतिज्ञा के साथ अलवर लिवा लाए कि वे उनसे प्रति दिन तीन घण्टे व्याकरण पढ़ा करेंगे। दण्डी विरजानन्द जी सं० १६०१ वि० से कुछ पहिले अलवर आये थे और तीन चार वर्ष तक अलवर में रह कर महाराज को पढ़ाते रहे। महाराज विनय-सिंह जी बड़े ही विद्या रसिक थे। अलवर का बृहत् पुस्तकालय उनके विद्यानुराग का साक्षी है। इस पुस्तकालय में बड़े बड़े बहुमूल्य ग्रंथ संगृहीत हैं। दण्डी विरजानन्द जी ने महाराज अलवर नरेश विनयसिंह को पढ़ाने के लिये जो शब्दबोधनात्मक व्याकरण ग्रन्थ बनाया था उसकी एक हस्तलिखित प्रति भी उसी पुस्तकालय में रक्खी है। उक्त शब्दबोध ग्रन्थ के अन्त में निम्नलिखित पद्य अङ्कित हैं—

श्रीपानालवरो द्विषां स विजयी शार्दूलविक्रीडितम् (:१)
तस्य श्रीविनयेशभूपतिलकस्याज्ञावशादुद्धृतः ॥
सारो व्याकरणस्य तेन भगवान्श्रीशंकरः श्री (मी ?)यताम्।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीगौरीशंकरशिष्य श्री विरजानन्द कृतः शब्दबोधोनाम व्याकरणसंक्षपसंग्रहः ।

दण्डी विरजानन्द जी प्रतिज्ञा पालन में ऐसे दृढ थे कि एक दिन जब अलवर नरेश किसी कारणवश उनसे पढ़ने न आये तो उन्होंने उनके इस प्रतिज्ञा भङ्ग दोष पर अलवर को तुरन्त त्याग दिया और चलते समय बहुमूल्य पुस्तकें और कुछ रुपया भी वहीं छोड़ आये। वह अपने पुराने विद्यार्थी अंगद-राम के साथ अपने पुराने स्थान सोरों के उसी गड़िया घाट पर आन कर मथुरादास की कुटी में पुनः रहने लगे। वहाँ जाकर वे कठिन रोग ग्रस्त होगये, उससे स्वास्थ्य लाभ करने पर वे सोरों छोड़ कर मुरसान ज़िला अलीगढ़ आए। वहां के राजा टीकमसिंह ने विशेष श्रद्धा के साथ उनका आतिथ्य सत्कार किया। मुरसान से वे भरतपुर आकर वहाँ के नरेश बलवन्तसिंह के आश्रय में कुछ दिन रहे। यह घटना सम्वत् १९१० वि० से कुछ पूर्व की है क्योंकि महाराजा बलवन्तसिंह का राजत्वकाल संवत् १९१० वि० तक रहा था। महाराजा बलवन्तसिंह ने दण्डी जी को अपने यहाँ रखने का बहुत आग्रह किया परन्तु उन्होंने न माना। बिदा होते समय महाराज ने आदरार्थ चार सौ रुपए और एक दुशाला दण्डी जी को भेंट किया। भरतपुर से चल कर दण्डी जी संवत् १९०३ वा १९०४ वि० के निकट मथुरा में आकर गतश्रमनारायण के मन्दिर में रहने लगे और फिर होली दरवाज़े और विश्रामघाट की सड़क से पश्चिम की ओर एक मकान किराये पर लेकर उसमें एक पाठशाला स्थापित की। अलवर नरेश विनयसिंह, जयपुरा-धीश रामसिंह और भरतपुराधिपति बलवन्तसिंह उनको पाठ-शाला संचालन के कार्य में आर्थिक सहायता देते रहते थे।

कुछ समय पश्चात् वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्धाचार्य गोवर्धन वासी रंगाचार्य मथुरा में आए और मथुरा के प्रसिद्ध सेठ राधाकृष्ण और गोविन्ददास ने अपना पैत्रिक जैनमत त्याग कर उनसे वैष्णव मत के श्रीसम्प्रदाय की दीक्षा ली और वृन्दावन का "सेठजी का मंदिर" के नाम से प्रसिद्ध विशाल मन्दिर बनवा कर अपने गुरुको विशाल सम्पत्ति सहित अर्पण किया। उक्त रङ्गाचार्य के शिक्षागुरु प्रसिद्ध वैयाकरण कृष्ण शास्त्री एक बार मथुरा पधारे। एक दिन कृष्णशास्त्री पक्ष के दो विद्वानों लक्ष्मण ज्योतिषी और मूडमुड़िया पगड्या, तथा दण्डी विरजानन्द जी के विद्यार्थियों चौबे गंगादत्त और रङ्गदत्त में शास्त्रार्थ हो पड़ा। कृष्ण शास्त्री के पक्ष वालों ने पूछा कि 'अजायुक्ति' इस पद में कौन समास है? दण्डी जी के विद्यार्थियों ने कहा कि षष्ठी तत्पुरुष है किन्तु कृष्ण शास्त्री के स्वपक्षीय उसको सप्तमी तत्पुरुष बतलाते थे। इसी विषय पर दण्डी विरजानन्द और श्रीकृष्ण शास्त्री में शास्त्रार्थ ठहरा। दोनों ओर से दो दो सौ रुपया हार जीत के रक्खे गये, सेठ राधाकृष्णजी ने इसमें मध्यस्थ बन कर १००) अपनी ओर से भी रख दिए और यह कुल ५००) की राशि सेठ जी की दुकान पर अमानत रक्खी गयी और लक्ष्मनारायण का मन्दिर शास्त्रार्थ का स्थान नियत हुआ। मथुरा में इस शास्त्रार्थ की चर्चा सर्वत्र फैल गई और चौबों और पहलवानों के मल्लयुद्ध देखने के अभिलाषी मथुरावासी शास्त्रार्थ का दंगल देखने के लिए संध्याके नियत समय पर मन्दिर में उमड़ पड़े। दण्डी जी ने अपने विद्यार्थी यह देखने के लिए भेजे कि यदि श्रीकृष्ण शास्त्री आये हों तो हम चलें किन्तु कृष्ण शास्त्री बिलकुल नहीं आए। जब दण्डी जी के विद्यार्थी वहाँ पहुंचे तो सेठ जी ने लक्ष्मण शास्त्री और

मूड़मुड़िया पंड्या से उनका शास्त्रार्थ करा दिया और थोड़ी देर में प्रसिद्ध कर दिया कि दण्डी जी हार गए और इस प्रकार सभा का कार्य समाप्त करके शर्त का रुपया "जमुना मैया की जै" पुकारने वाले चौबोंमें बाँट दिया। सेठजी दण्डीजी के यश को लुप्त करने के लिए इस मिथ्या प्रवाद को फैला कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए प्रत्युत उन्होंने अपने धन के बल से काशी की व्यवस्थाविक्रेत्री पंडित मंडली की ओर से अपने गुरु के गुरु श्रीकृष्ण शास्त्री की विजय का विजयपत्र प्राप्त कर लिया। उस समय पं० काकाराम शास्त्री, गौड़स्वामी, पं० काशीनाथ शास्त्री आदि काशी की शोभा को बढ़ा रहे थे। अब दंडी जी ने भी अपना पत्र काशी के उक्त विद्वानों के पास भेजा तो उन्होंने उत्तर दिया कि यद्यपि आपका पक्ष सत्य है, किन्तु हम पहले सेठ जी के पत्र पर हस्ताक्षर कर चुके हैं। काशी के पंडितों का यह अधर्मयुक्त व्यवहार देख कर दंडी जी को बड़ा विक्षोभ हुआ और उन्होंने काशी के पंडितों पर कटाक्षपूर्ण "कथं काशी विदुष्मती" पदान्तक एक श्लोकाष्टक रचा। सुना जाता है कि विरजानन्द के अद्वितीय शिष्य दयानन्द को यह अष्टक कंठस्थ था। उपर्युक्त शास्त्रार्थ के मिथ्या प्रकार से दंडी जी उत्तेजित होकर मथुरा के कलक्टर के पास गये और उससे प्रार्थना की कि "आप या तो सेठ जी से हमारा रुपया दिला दीजिये या कृष्ण शास्त्री से हमारा शास्त्रार्थ कराइये"। किन्तु कलक्टर ने उत्तर दिया कि हम इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। उन्होंने आगरा जाकर वहाँ की सदर जजी के धर्मव्यवस्थापक पंडित चिरञ्जीव शास्त्री से, जो २००) मासिक पर व्यवस्था कार्य पर नियुक्त थे, व्यवस्था देने का अनुरोध किया। उन्होंने भी वही उत्तर दिया कि हम पूर्व हस्ताक्षर कर चुके हैं। जब दंडी जी

ने देखा कि इस समय पाप प्रबल होरहा है और सत्य का कोई पक्षपाती नहीं है तो विवश होकर अपनी पाठशाला में आ बैठे और एकांत में विचार निमग्न रहने लगे । किसको ज्ञात था कि यह साधारण सी घटना उनके जीवन में ही नहीं प्रत्युत संसार में अपूर्व परिवर्तन ला उपस्थित करेगी, कौन कह सकता था कि वृक्ष से सेब का गिरना न्यूटन को पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का दर्शन करायगा, वा उबलती हुई बटलोई के ढक्कन के भाफ द्वारा हिलने से बाष्प के इञ्जिन का आविष्कार होगा, वा कोलंबस की मार्गभ्रष्टता शताब्दियों से विस्मृत पाताल के फिर दर्शन करायगी। महापुरुषों के इतिहासों में साधारण घटनाएँ उनके भावी असाधारण जीवन की आधारशिलाएँ बनी हैं और सचमुच यही अवस्थापरिणाम विरजानन्द के साथ इस मिथ्या शास्त्रार्थ की साधारण घटना का हुआ। विख्यात विचारक एमर्सन (Emerson) का कथन है कि हमारा बल हमारी निर्बलता से उत्पन्न होता है और मनुष्य मर्माहत और पीड़ित होकर बड़े बड़े काम करने के योग्य बन जाता है अर्थात् निर्बलता और पराजय मनुष्य की आत्मा को बलप्रदान कर देते हैं। विरजानन्द की आत्मा पर भी इस मिथ्या पराजय का यही प्रभाव पड़ा। यद्यपि वह जानता था कि मैं सत्य पर हूँ, किन्तु उसके पास अपने पक्षसमर्थन के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित न था। इस प्रमाण की गवेषणा के लिए उसने व्याकरण के ग्रन्थों की पड़ताल प्रारम्भ की। कई दिन के विचार के पश्चात् दंडी विरजानन्द के स्वच्छ हृदय में इस सत्य का उदय हुआ कि व्याकरण विषय में महर्षि पाणिनिप्रणीत अष्टाध्यायी ही सर्वोपरि प्रमाण है और भट्टोजीदीक्षित कृत सिद्धांतकौमुदी आदि टीकाग्रन्थ

प्रमाद पूर्ण हैं। उसने अष्टाध्यायी के "कर्तृकर्मणोः कृति" सूत्र से जान लिया कि पाणिनि से ही उसके सिद्धांत को पुष्टि होती है। इससे उसको अतीव आनन्द हुआ और वह अहर्निश अष्टाध्यायी की आलोचना में प्रवृत्त रहने लगा। प्रतिदिन संध्या के समय अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पाठ विरजानन्द के सामने होता था और वह एकाग्रचित्त होकर उस पाठ को सुनता था। कभी २ पहर भर से अधिक रात्रि बीतने तक यह पाठ होता रहता था। पाठ समाप्ति के पश्चात् जब विद्यार्थी चले जाते तब दंडी जी उस पाठ को मनन करने के लिये एकान्त में जाकर बैठते और कभी कभी किसी गूढ विषय की मीमांसा करने के लिए आधी रात तक ध्यानावस्थित रहते थे। प्रातःकाल जब कोई विद्यार्थी पाठशाला में आता तो यह देखने के लिए कि गतरात्रि में पढे हुए पाठ का कहाँ तक अभ्यास हुआ है, उसके हाथ में पुस्तक देकर उसको अपना स्मरण किया हुआ पाठ धाराप्रवाह सुना कर श्रोता को विस्मित कर देते थे।

इस प्रकार समस्त अष्टाध्यायी और महाभाष्य उनको कंठस्थ होगया था। इन दोनों आर्ष ग्रन्थों में उन्होंने जितना भी प्रवेश प्राप्त किया और वे उनके जितने भी मर्मग्राही होते गए, उतना ही वे उनकी गुण गरिमा से आकृष्ट होते गए और कौमुदी आदि अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों से उतने ही वीतश्रद्ध भी होते गए। फलतः उन्होंने अपनी पाठशाला में कौमुदी, मनोरमा और शेखर आदि का पाठ बिलकुल बन्द कर दिया और अष्टाध्यायी और महाभाष्य का ही पाठ होने लगा। इस बड़े विप्लव से उनकी पाठशाला को कुछ भी क्षति नहीं पहुंची। उनका विद्यार्थिसमूह कौमुदीयुग के समान

पाणिनियुग में भी अतुल उत्साह और अतीव श्रद्धा के साथ पठन में प्रवृत्त रहा। दण्डी जी की पाठशाला के कौमुदीयुग के छात्र रंगदत्त, गंगादत्त, चिरंजीलाल और अंगदराम प्रभृति थे, और पाणिनियुग के विद्यार्थी गोपाल ब्रह्मचारी, युगलकिशोर, सोहनलाल, नन्दन जी, पाँडे श्यामलाल, गरुडध्वज, दयानन्द सरस्वती, दीनबन्धु, चौबे वनमाली और उदयप्रकाश आदि थे।

दण्डी जी रात दिन इसी विचार में निमग्न रहते कि व्याकरण के अनार्ष ग्रन्थों को हटाकर उनके स्थान में आर्ष ग्रन्थों का प्रचार संसार में किस प्रकार किया जाय। उनकी अपनी पाठशाला बहुत छोटी थी, और कोई ऐसा उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता था कि जिससे वे अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में शीघ्र कृतकार्य होसकें। अन्ततो गत्वा एक अवसर उनके हाथ आया और उनको आशा हुई कि वे इस समय अपने विचार और अपना उद्देश्य दूर तक पहुंचा सकेंगे। विक्रमी संवत् १६१४ के सैनिक विद्रोह के पश्चात् इङ्गलैण्ड की महारानी विक्टोरिया के भारत सम्राज्ञी बनकर भारतीय शासनदण्ड ग्रहण करने पर सं० १६१६ वै० में भारत के राजप्रतिनिधि लॉर्ड कैनिंग ने आगरा नगर में राजपरिषद् का एक महाधिवेशन (दरबार) किया। उसमें स्वदेशीय नरेश जयपुर, जोधपुर, ग्वालियर आदि के अधिपति भी निमन्त्रित होकर ससमारोह पधारे थे। उनमें जयपुरपति राजा रामसिंह का भी आगरे में शुभागमन हुआ था। महाराज रामसिंह का उस समय बड़ा प्रभाव था, इस लिए दण्डी विरजानन्द जी उनसे अपनी उद्देश्यसिद्धि की आशा बांधकर उनसे साक्षात् करके उसमें साहाय्यप्रदान की प्रार्थना करने के लिए शिष्यमण्डली सहित

आगरे में उपस्थित हुए। जिस समय दण्डी जी की महाराज रामसिंह जी से भेंट हुई, उस समय बूंदी के पं० केदारनाथ शास्त्री, रीवाँ के पण्डित पुरन्दर, और तिरहुत के नैयायिक राजजीवन ओझा भी सभा की शोभा बढ़ा रहे थे। दण्डी जी को दूर से आता देखकर महाराज रामसिंह जी अपनी गद्दी से नीचे उतर कर द्वार तक आगे बढ़कर दण्डी जी का हाथ पकड़ कर उनको अपने साथ भीतर लेगए और उनको राज-सिंहासन पर बिठला कर आप नीचे बैठ गए। उस समय दण्डी जी के साथ उनके दो विद्यार्थी युगलकिशोर और जगन्नाथ चौबे थे। उन्होंने दण्डी जी की ओर से महाराज को एक यज्ञोपवीत, एक श्रीफल (नारियल) और कुछ मथुरा के पेड़े भेंट किए। महाराज ने उनको प्रसन्नतापूर्वक नतमस्तक हो स्वीकार करके दण्डी जी से वार्तालाप करते हुए प्रार्थना की कि आप किसी प्रकार मुझको व्याकरण पढ़ादें, जिससे मैं वेद शास्त्र का आशय जान सकूँ। दण्डी जी ने उत्तर दिया कि यदि आप तीन घण्टे प्रतिदिन इसके लिए प्रदान करसकें तो आप को पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण आसकता है। महाराज कुछ मौन रहकर बोले कि इस अवस्था में मुझको अष्टाध्यायी नहीं आसकेगी, अतः व्याकरण का कोई और सरल ग्रन्थ बनाकर मुझको पढ़ाइए। दण्डी जी ने उत्तर दिया जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब को तोड़कर नया प्रतिबिम्ब नहीं बनसकता वैसे ही अष्टाध्यायी का कोई नवीन रूपान्तर निर्माण नहीं होसकता। तब महाराज रामसिंहजी ने कहा कि कोई ऐसा कार्य बतलाइए कि जिससे मेरी कीर्ति हो और संसार का उपकार भी हो। दण्डी जी ने उत्तर दिया कि सार्वभौम सभा का संकल्प लेकर मैं आपके पास आया हूँ।

आप सब क्षत्रियों में श्रेष्ठ और सूर्यकुलकमलदिवाकर हैं। आप सार्वभौम सभाके संयोजक बनकर उस में भारत के सब प्रान्तों के पण्डितों और नरेशों को निमन्त्रित करें। मैं उसमें पुस्तकमर्यादा का विषय प्रस्तुत करूँगा और कौमुदी आदि अनार्ष ग्रन्थों की अमान्यता दिखला कर अष्टाध्यायी और महाभाष्य आदि आर्ष ग्रन्थों का महत्व स्थापन करूँगा और उसको समागत विद्वन्मण्डली से स्वीकार कराकर आपको विजयपत्र दिलवा दूँगा, जिससे आपको सार्वभौम की पदवी प्राप्त होजायगी और आपके नामका संवत् चल पड़ेगा। महाराज के दीवान शिवदीनसिंह जी ने उत्तर दिया कि आप जयपुर पधारें। दण्डी जी ने कहा कि यदि महाराज कहेंगे तो हम चलेंगे। महाराज ने निवेदन किया कि यह समय इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है, जयपुर जाकर इसकी आयोजना की जायगी। दण्डी जी यह कहकर वहाँ से उठ खड़े हुए कि यदि तुम इस कार्य को करोगे तो तुम्हारी कीर्ति होगी अन्यथा जिस प्रकार कुत्तों और गधों के मरजाने पर उनको कोई भी स्मरण नहीं करता उसी प्रकार आपके पीछे आपको भी कोई स्मरण न करेगा। चलते समय महाराज रामसिंह जी ने २०१) दो अशर्फी और एक दुशाला दण्डी जी को भेंट किया किन्तु उन्होंने नहीं लिया और यह कहकर चलदिये कि हम धन लेने नहीं आए हैं। उनके चले आने पर महाराज ने यह सब भेंट मथुरा भिजवा दी और १५) मासिक उनके व्यय के लिए नियत कर दिया। दण्डी जी ने प्रस्तावित सार्वभौम सभा का एक विवरण पत्र भी संस्कृत पद्य में उसके भाषानुवाद सहित रच कर महाराज रामसिंह के पास जयपुर भेजा था। उसकी एक प्रति दण्डी जी

के शिष्य पंडित युगलकिशोर शास्त्री के पास विद्यमान थी। अपने देहान्त समय दण्डी जी अपनी पुस्तक आदि सब सम्पत्ति उक्त पंडित जी को ही देगए थे। उक्त विवरण पत्र की एक प्रतिलिपि 'विरजानन्द चरित' के प्रणेता स्वर्गीय बङ्गीय महाशय देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने उक्त पंडित जी से प्राप्त करके अपने उक्त ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट रूप से सन्निविष्ट की है। यह विवरणपत्र ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत बहुमूल्य है, क्योंकि उससे दण्डी जी की विचारपरम्परा का ज्ञान स्वयम् उन्हीं के संस्कृत और लोकभाषा के शब्दों में प्राप्त होता है। प्रस्तावित सार्वभौम सभा के विषय में दण्डी जी ने महाराज रामसिंह जी को पत्र द्वारा कई बार स्मरण दिलाया और पत्रोत्तर की प्रतीक्षा प्रतिदिन करते रहे। किन्तु जयपुर राजसभा के अमात्यों ने महाराज रामसिंह को इस सभा के करने की अनुमति न दी। अन्त को जयपुर से कोई संवाद न पाकर दण्डी जी जयपुराधीश महाराज रामसिंह से निराश होगए। सुना जाता है कि तत्पश्चात् उन्होंने कश्मीराधिपति रणवीरसिंह और ग्वालियर नरेश जयाजीराव सेन्धिया से भी उक्त सभा का प्रस्ताव किया था परन्तु खेद है कि वे कहीं से भी कृतकार्यता प्राप्त न करसके।

श्रीदण्डीजी को अहर्निश प्रत्येक क्षण अपने उद्देश्य—आर्ष ग्रन्थोंके प्रचार का ही ध्यान रहता था। जब सार्वभौम सभाके प्रस्ताव का कुछ भी फल नहीं हुआ और उनके पचासों विद्यार्थियों में से, जिनको वे निःस्वार्थ भाव से पढ़ाते थे, ऐसा कोई भी न निकला जो उनके उद्देश्य की सिद्धि में अपने जीवन का उत्सर्ग कर सके तो वे बहुत ही खिन्न रहने लगे। उन दिनों जहाँ पश्चिमोत्तर प्रांत (वर्तमान संयुक्त प्रांत आगरा) के दक्षि-

जगत् में दुर्भिक्ष की दावानल धधक रही थी वहाँ दण्डी विरजानन्द के अन्तःकरण में उपर्युक्त चिन्ता की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। ऐसे समय में एक युवा संन्यासी कार्तिक सुदि यम द्वितीया (भ्रातृ द्वितीया) संवत् १९२७ वि० के दिन मथुरा नगर में आकर रंगेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरा। संन्यासी की आयु ३४ या ३५ वर्षकी होगी। उसके वस्त्र गेरुए थे, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला थी। हाथ में एक लम्बा दण्ड और बगल में व्याकरण सिद्धान्त कौमुदी का एक पुस्तक था। उसकी भाषा गुजराती मिश्रित हिन्दी और "हमरे तुम्हरे" के प्रयोगों से परिपूर्ण थी। संन्यासी की आकृति में कुछ विशेषत्व था और उसकी बातचीत और भाव भंगीसे असाधारणत्व का परिचय मिलता था। उसने दण्डी जी की पाठशाला में आकर यथारीति अभिवादन करके उनसे अध्ययन की इच्छा प्रकट की। दण्डी जी ने अपने नियमानुसार वार्तालाप से उसकी मेधा परीक्षा करके उसको अनन्य साधारण और परम मेधावी संन्यासी पाया और अनार्ष ग्रन्थों के निसरण और परित्याग की प्रतिज्ञा लेकर उसको पढ़ाना स्वीकार किया। दण्डी जी ने युवा संन्यासी को यह भी आदेश दिया कि उस को अपने भोजन और वासस्थान का निश्चित प्रबन्ध करके पाठ प्रवृत्त होना चाहिए जिससे उसके बीच में विक्षेप न पड़े। उन दिनों मथुरा में बाबा अमर लाल नामक एक समृद्ध गुजराती औदीच्य ब्राह्मण रहते थे जो वहाँ जोशी बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे और अपनी उदारता के लिए सारे नगर में विख्यात थे। इन्हीं जोशी बाबा ने नवागत संन्यासी दयानन्द के भोजन का प्रबन्ध अपने गृह में कर दिया। महर्षि दयानन्द स्वोल्लिखित आत्म चरित में जोशी बाबा के उपकारों के प्रति अपनी

बहुत ही कृतज्ञता प्रकट करते हैं। मथुरा के विश्रान्त घाट के ऊपरले भाग में जो लक्ष्मी नारायण का मन्दिर है, इसी के निचले खण्ड की दरवाज़े के बग़ल की एक छोटी कोठरी में दयानन्द संन्यासी के रहने की व्यवस्था हुई। इस छोटी कोठरी को देख कर कुछ आश्चर्य होता है कि भारत के भावी के भावी भारी क्रान्तिकारक दयानन्द के मस्तिष्क का विकास इस छोटी सी कोठरी में हुआ था और उसकी विद्या की पूर्ति उसी में रहकर हुई थी। नव विद्यार्थी के लिए इकत्तीस रुपये चन्दा एकत्र करके महाभाष्य का ग्रन्थ मंगवाया गया। दण्डी विरजानन्द ने दयानन्द में असाधारण शिष्य और दयानन्द ने विरजानन्द में अलौकिक गुरु के दर्शन किये। दयानन्द को पाकर दण्डी जी की दिव्य दृष्टि ने अपने चिरपोषित मनोरथ की सिद्धि को साक्षात् अपने सामने खड़ा हुआ देखा और दयानन्द ने भी दीर्घकाल से प्रतीक्षित व्याकरण के सूर्य के दर्शन से अपने नेत्रों को कृतार्थ किया। वैसे तो दण्डी जी सभी शिष्यों पर समान रूपसे स्वविद्या की वृष्टि करते थे, किन्तु स्वाती के वर्षा बिंदु शुक्ति में ही स्थान पाकर अपूर्व आभा से उद्भासित मुक्ता का रूप धारण करते हैं। सूर्य का प्रतिबिम्ब मणि और मुकुट में ही प्रतिफलित होता है। इसी प्रकार विरजानन्द की विद्या ने दयानन्द के अन्तःकरण में स्थान पाकर अपूर्व विकास प्राप्त किया। दिन प्रति दिन विरजानन्द रूपी विद्या के आदित्य की किरणें दयानन्द के हृदय-दर्पण में प्रवेश पाकर उस को ज्ञान राशि के पूर्ण चन्द्र का रूप देने लगीं। विद्या ग्रहण में स्वशिष्य की सुशाणित मेधा और विशेष तर्क-पटुता का परिचय पाकर विरजानन्द मन ही मन अतीव आनन्दित होते थे और कभी कभी वाग्युद्ध में दयानन्द को

'कालजिह्व' और 'कुलङ्कर' कह कर पुकारते थे। कालजिह्व उसे कहते हैं कि जिसकी जिह्वा असत्के खण्डनमें काल के समान हो और कुलङ्कर शास्त्रार्थ में खूँटे के समान अविचलित रहने वाले पुरुष को कहते हैं। विरजानन्द ने दयानन्द की विद्यार्थी अवस्थामें ही भावी बड़ा भारी शास्त्रार्थ मल्लजान लिया था। उनकी परम अभिलाषा थी कि उनका योग्यतम शिष्य दयानन्द शास्त्रार्थ में वैसा ही वीर निकले जैसा कि वे स्वयं समय समय पर बम्बई निवासी पंडित गुट्टूलाल जी शतावधानी आदि के सन्मुख अपनी शास्त्रार्थ वीरता की धाक बिठला चुके थे। स्वामी दयानन्द जी दण्डी विरजानन्द जी के समीप दो ढाई वर्ष रह कर व्याकरण में परम पारंगत और पूर्ण निष्णात होगये। अब उन्होंने दण्डी जी से विदा लेने की तैयारी की तो उनके हृदयमें प्रश्न उठा कि गुरुजीको गुरुदक्षिणा में क्या भेंट कीजाय. उनके पास एक कौड़ी तक न थी जिस से वे गुरुजीको कोई अभीष्ट वस्तु क्रय करके उनको भेंट कर सकते।

वे एक सेठ के पास गये और उसकी सहायता से गुरु जी के प्रिय एक सेर लौंग लेकर उनके चरणों में उपस्थित हुवे और प्रार्थना की कि मेरे पास क्या है जो गुरुदक्षिणा रूप से श्रीचरणों में धर सकूँ, यह एक सेर लौंग कहीं से माँग कर लाया हूं।

दण्डी जी ने इस भेंट को आश्चर्य की दृष्टि से देखा। इस लिए नहीं कि उनके हृदय में दयानन्द की इस भेंट के प्रति आदर न था। प्रत्युत वे दयानन्द से किसी और प्रकारकी गुरुदक्षिणा की आशा रखते थे। वे बोले—"दयानन्द! मेरे लिए यह दक्षिणा लाए हो?" "हाँ महाराज", "मैं इस दक्षिणाको लेकर क्या करूँ? मैं तो तुम से कुछ और ही दक्षिणा लेना

चाहता हूं। सौम्य ! संसार अंधकारमय होरहा है। वेद का सूर्य अस्त हो गया है। अनार्ष ग्रन्थ जनता में प्रसार पाए हुए हैं। आर्ष ग्रन्थों का आदर लुप्त हो गया है। मैं तुमसे यह गुरु-दक्षिणा चाहता हूं कि तुम मेरे सामने प्रतिज्ञा करो कि तुम, जब तक जीवित रहोगे, तब तक संसार में आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और वैदिक धर्म के विस्तार में अपना जीवन अर्पण करोगे। मैं इस प्रतिज्ञा को ही तुम से गुरुदक्षिणा के रूप में ग्रहण करना चाहता हूं।" इसको सुनकर दयानन्द ने 'तथास्तु' कहा और यह प्रतिज्ञा की कि "मुझ को गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य है, मैं वेद के अस्त सूर्य के पुनरुदय के उद्योग के लिए अपना जीवन अर्पण करता हूँ।" श्री विरजानन्द जी ने शिष्य के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। विरजानन्द की वयोवृद्ध बाहु से वैदिक धर्म की वैजयन्ती को अपने सबल हाथ में लेकर दयानन्द मथुरा से विदा हुए।

"गुरु हो तो ऐसा और शिष्य हो तो ऐसा" यह ध्वनि सर्वत्र व्याप्त होगई। यह कहना कठिन है कि इन दोनों में कौन बड़ा है और स्यात् यह कहने की आवश्यकता भी नहीं है। यदि विरजानन्द का प्रादुर्भाव न होता तो स्यात् दयानन्द दयानन्द न बनता। किन्तु दयानन्द से विरजानन्द का नाम जितना प्रकाशित हुआ है उतना और किसी शिष्यसे नहो सकता था। जब तक आर्य समाज जीवित है, जब तक दयानन्दका उद्योग जीवित है तब तक विरजानन्द का नाम भी जीवित है। दयानन्द ने जिस प्रकार अपने गुरु की आज्ञा का पालन किया, संसार उसका साक्षी है।

दण्डी विरजानन्द जी का आकार मध्यम और वर्ण गौर था। उनका स्वभाव कुछ तेजस्वी था, मन्यु का उदय उन के

मन में शीघ्र होजाता था। उनका आहार और रहन सहन अतीव सरल था।

उन्होंने इस असार संसार के त्याग से कुछ दिनों पूर्व अपने पुस्तक, पात्र, वस्त्र और तीन सौ रुपये रोकड़ा, समस्त पाँच सौ पच्चीस रुपये की सम्पत्ति की रजिस्ट्री अपने विद्यार्थी पं० युगलकिशोर जी के नाम करादी थी। कहते हैं कि उन्होंने अपने देहावसान से २ वर्ष पूर्व अपने विद्यार्थियों से कह दिया था कि मैं अमुक दिन उदरशूल की पीड़ा से अपना शरीर छोड़ूँगा। इस प्रकार भारत के प्राचीन ऋषियों की ग्रन्थसंपत् के रक्षक, वैदिक ज्योति के प्रसारक, आर्ष व्याकरण के अपूर्व प्रचारक दण्डी विरजानन्द जी ने ऋषि दयानन्द के रूप में संसार को अपना प्रकाश प्रदान करके विक्रमीय सम्वत् १६२५ की आश्विन वदि त्रयोदशी को सोमवारके दिन इहलोक लीला संवरण की। महर्षि दयानन्द ने जिस समय यह शोक समाचार सुना तब उनके मुखारविंद से सहसा यह वाक्य निकला कि "आज व्याकरण का सूर्य अस्त होगया।" मुक्ता का मूल्य मणि विक्रेता (जौहरी) से पूछिये। दण्डी विरजानन्द की महिमा ऋषि दयानन्द ही जानता था। यदि यह वचन किसी चाटुकार के मुखसे निकलता तो उसको अत्युक्ति वा गुरुभक्ति का उद्रेक कहा जा सकता था किन्तु आप्त महर्षि दयानन्द का उनको व्याकरण का सूर्य बतलाना विशेष गौरव रखता है। दण्डी विरजानन्द के महत्व का इससे भी बढ़ कर यह प्रमाण है कि वेदों के पारंगामी आदित्य ब्रह्मचारी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य और अनुपम ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की समाप्ति पर अपने को साभिमान दण्डी विरजानन्द का शिष्य लिखा है।

वेद और ऋषियों की नाम लेवा जनता प्रज्ञाचक्षु विरजा-

नन्द के महोपकार को कभी नहीं भूल सकती। आर्य सन्तान आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और पुनरुत्थान के लिये उनकी सदा ऋणी और कृतज्ञ रहेगी।

पद्धति।

श्री विरजानन्द निर्वाण की पद्धति के गृह्य तथा सामाजिक कृत्य भी अन्य महापुरुषों की जयन्तियों के ही समान हैं।

—o—

शरत्पूर्णिमा।

आश्विन सुदि पूर्णिमा।

शरच्चन्द्र की चारुचन्द्रिका, आज गगन तल छाई है।
चञ्चल, चारु, चकोर लखीके, जो मन में अति भाई है॥

'श्री हरि'

शरद पूर्णिमा पर्व सुहाया,
अमित मोद मानव मन छाया।
साथ प्रकृति के मोद मनाओ,
हर्षित हो सब को हरषाओ॥

[श्रीसिद्धगोपाल कविरत्न]

आज शारद श्री पूर्ण यौवन पर है. ... शारदा रजनी की रूपा रजताभा नयनों का अपूर्व आल्हाद देरही है। चारों ओर दुग्ध का उदधि सा उमड़ रहा है। जहाँ तक दृष्टि की दौड़ है श्वेतता नेत्रों का आतिथ्य करती है। ऐसा ज्ञात होता है कि आज शरत्पूर्णिमा के शशि का यश संसार में सर्वव्यापी बन गया है। आज की ही चन्द्रिका पर किसी कवि का भ्रान्तिमान् अलंकार का यह उदाहरण पद्य पूर्ण रूप से चरितार्थ होरहा है।

मुग्धादुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः,
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि॥

कर्कन्धूफललुचिनीति शबरी मुक्ताफलाशंकया,
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका॥

अर्थ—भोले गोपों को आज की सघन चांदनी से यह भ्रम हो गया कि हमारी गौवों के थनों (ऊधों) से दूधकी धारा बह रही है इसलिये उन्हों ने गौवों के नीचे दूध एकत्र होने के लिए घड़े रख दिए। आज की चांदनी से (लाल) कमल भी ऐसे श्वेत होगए हैं कि किसी कान्ता ने उन को कुमुदिनी(कुई) समझ कर अपने कान का आभूषण बना लिया। आज झरबेर के बेरों पर भी ऐसी श्वेतता छाई है कि भीलनी उनको मोती समझ कर चुनने लगी है। आज की सघन चांदनी किसके मन में भ्रम उत्पन्न नहीं करती है।

एक और कवि कहता है—

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः।

अर्थ—आज पात्र में पड़ती हुई चन्द्रमा की किरणों को मार्जार (बिलाव) दूध समझ कर चाट रहा है।

आज को रात्रि में ओषधीपति सर्वत्र ओषधियों में अमृत का आधान कर रहा है। ओषधियों में अमृत भरने के ही कारण उसको ओषधीपति की उपाधि मिली है। सोमलता आदि कई दिव्य ओषधियों में दिव्यगुण चन्द्रमाकी ही किरणों के पड़ने से आते हैं। नेत्रों में शीतलता का संचार करने के कारण ही वह शीतांशु या हिमांशु कहलाता है। वस्तुतः पूर्णिमा के चन्द्रमा में कुछ ऐसी आल्हादक आकर्षण शक्ति होती है कि वह अचेतन और चेतन जगत् को आल्हादित कर के अपनी ओर आकर्षित किए बिना नहीं रहता। पूर्ण चन्द्र को देख कर

समुद्र का पूर भी अपने भण्डार में नहीं समाता। वह भी उस के शीतल करों (किरणों) से अपने तरङ्गरूपी कर मिलाने के लिए आगे बढ़ता है—उमड़ा पड़ता है—इसी क्रिया को लोक में ज्वार भाटा कहते हैं। पक्षियों में चकोर पक्षी पूर्ण चन्द्र के स्वागत के लिए आनन्दातिरेक से उसकी ओर को उड़ता है। जब प्रत्येक पूर्णिमा के चन्द्रमा की ऐसी आनन्दप्रदायिनी विभूति है तो शरदृतु के पूर्ण चन्द्र के आनन्द प्रदान की तो सीमा नहीं है। पूर्ण शारद शशि तो साक्षात् आनन्द बरसाता रहता है। ऐसे समय में सहृदय जनों की हृत्तन्त्री आनन्द से स्वयमेव निनादित हो उठती है। फिर भारतीय हृदय तो प्रभु की रम्य रचना वा प्रकृति देवी की शोभा के निरीक्षण में आनन्दानुभव करने में सदा से सिद्ध हस्त रहा है, वह हर्षो-ल्लसित प्रकृति के आनन्दस्वर में सदा से अपना स्वर मिलाता रहा है। फिर शरत्पूर्णिमा के अत्यानन्ददायक अवसर पर वह कैसे उदास रह सकता है उसने शरत्पूर्णिमा को भी उत्सव निर्धारण कर लिया। भारत के सजीव आनन्द विधान दीर्घ-दृष्टि ऋषियों की यही आनन्दप्रियता और दीर्घदर्शिता है कि वे सच्चिदानन्द की आनन्द विभूति के विकास का कोई अव-सर हाथ से नहीं जाने देते। उनके कई पर्व हृदय की आनन्द-पूर्ति के लिए ही विशेष रूप से उद्दिष्ट हैं। हृदय को हर्षातिरेक से भरने के कारण वे पर्व अन्वर्थ पर्व हैं यही उन पर्वों की पर्वता है। ऐसे पर्व ऋतूत्सव कहलाते हैं।

शरत्पूर्णिमा का पर्व भी ऐसा ही पर्व है। उस दिन आर्य-गण आनन्द निमग्न होकर शरत्पूर्णिमा के गुण गाते हैं। इस अवसर पर श्रावणी शस्य के धान्यों का आगमन आरम्भ हो जाता है और शरत्पूर्णिमा के दिन सर्व प्रथम नवीन मूंगी

(धान्य) के चौलों का उपभोग किया जाता है। चौलों को दूधमें भिगोकर शरत्पूर्णिमा की छिटकी हुई चांदनी में अमृतदानके लिए रख दिया जाता है और उनके गल कर शीतलता सम्पन्न हो जाने पर उनको इष्ट मित्रों में बाँट कर उनका भोग लगाया जाता है। आर्यों के प्रत्येक पर्व में यह विशेषता है कि इस पर उस ऋतु की कोई न कोई नवागत भोज्यवस्तु भोजन के उपयोग में लाई जाती है। उस को प्रथम पूज्य पुरोहित और इष्ट मित्रों को उपायन (भेंट) करके काम में लाया जाता है। यदि विजयादशमी के दिन नई चली हुई लौकी (श्वेत फूल के कद्दू) के रायते का स्वाद लिया जाता है, तो आज शरत्पूर्णिमा की श्वेत चन्द्रिका में दुग्ध और शर्करा मिश्रित नवविष्पन्न श्वेत चौलों से रसना का सत्कार किया जाता है। यदि इस योग में तुलसी पत्रों का भी योग कर दिया जाय तो आयुर्वैदिक दृष्टि से इसका उपयोग बहुत कुछ बढ़ जाय। वह इस ऋतु के पित्तदोष जनित वान्ति भ्रान्ति आदि का भी प्रशमनकारक बन जाय। इसी प्रकार और और पर्वों पर अन्य २ नवीन आहार नियत हैं जिनका वर्णन उस २ पर्वके प्रसङ्ग पर होगा। आज की पूर्णिमा की रात्रि की शारद चन्द्रिका ऐसी निर्मल और स्वच्छ होती है कि आर्य ललनाएँ उस में अपनी तीक्ष्ण दृष्टि के परीक्षार्थ सौ बार सुई में तागा पिरोने का करतब किया करती हैं और इस कार्य में अपनी समवयस्काओं से साम्मुख्य (होड़) करती हैं। इसके विषय में आज कल के अन्ध परंपरापूर्ण समय में कुल देवियों में यह मिथ्या भावना बद्धमूल हो गई है कि शरत्पूर्णिमा की चन्द्रिका में सौ बार सुई पिरोने से दृष्टिशक्ति की वृद्धि होती है और यह पुण्यकार्य है, परन्तु शरत्पूर्णिमा की चांदनी अन्य पूर्णिमाओं की अपेक्षा

स्वच्छतम तथा निर्मलतम और अत्यन्त आह्लादिनी क्यों न हो, वह सुई पिरोने सदृश सूक्ष्मदृष्टिसापेक्ष कार्य के लिये दिन के प्रकाश की अपेक्षा मन्दतर ही मानी जायगी और उसमें सुई पिरोने से नेत्रों को हानि पहुंचने की सम्भावना अधिक है और नहीं उससे किसी अदृष्ट पुण्य प्राप्ति का ही अनुमान होसकता है। इसलिये मेरी क्षुद्रमति में तो यही आता है कि आर्य गृह-देवियों में सुई पिरोने का यह कृत्य स्वसखी-सहेलियों के समूह में दृष्टि परीक्षा का साम्मुख्य मात्र होता होगा। इसके अति-रिक्त उससे और कोई लाभ भी अभिप्रेत न था।

वैसे तो श्रौत सूत्र और गृह्यसूत्र आदि कर्मकाण्ड ग्रन्थों में प्रत्येक पूर्णिमा पर पौर्णमासेष्टि (पौर्णमासयज्ञ) का विधान है किन्तु पारस्कर गृह्य सूत्र के २ य खण्ड की सोलहवीं कंडिका में शारद पूर्णिमा (आश्विन पूर्णिमा) के अवसर पर पृषातका कर्म के नाम से होम यज्ञ की विशेष विधि वर्णित है तथा महर्षि दयानन्द ने भी अपने संस्कारविधि ग्रन्थ में गोभिलीय गृह्य-सूत्रानुसार पौर्णमासेष्टि की आहुतियों के विशेष मन्त्र दिये हैं। इस लघु लेखक ने शरद् ऋतु की स्तुति के दो मन्त्र यजुर्वेद से निकाले हैं। उपर्युक्त सब स्थलों से संग्रह करके शारद पौर्णमासेष्टि की पद्धति नीचे लिखी जाती है।

इस अवसर पर होमयज्ञ का एक विशेष उपयोग यह भी है कि आजकल जलों के घटते रहने के कारण दलदलों में सड़न उत्पन्न हो जाती है और इससे वायु विकृत होजाता है, जो इस ऋतु में ज्वर के फैलने का कारण होता है। पाश्चात्य डाक्टर इस ज्वर का कारण मच्छरों में रहने वाले मलेरिया विष के कीटाणु बतलाते हैं। उनके इस विचार का आधार उनका

प्रत्यक्ष अनुभव कहा जाता है परन्तु सर्व साधारण की घ्राणेन्द्रिय दलदलों से उठती हुई दुर्गन्धि को प्रत्यक्ष अनुभव करती है, और वही वायु में मिलकर आजकल के ऋतुज्वर के प्रसार का प्रबल कारण प्रतीत होता है। शारदीय पूर्णिमा का होम उस विकृत वायु के सुधार का सर्वोत्तम उपाय है।

पद्धति

गृह्य कृत्य प्रातः सामान्य पर्व पद्धति में प्रदर्शित विधानानुसार गृह के परिमार्जन शोधन, लेपन आदि के पश्चात् नवीन शुद्ध स्वदेशीय वस्त्र परिधान पूर्वक सपरिवार सामान्य होम करके निम्न लिखित मन्त्रों से दधि (दही), मधु (शहद) और घृत (घी) मिश्रित पायस (खीर) के स्थालीपाक से दस अधिक आहुतियाँ दी जायें—

(१) ओ३म् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये इदन्न मम ॥

(२) ओ३म् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा । इदमग्नीषोमाभ्याम् इदन्न मम ॥

(३) ओ३म् विष्णवे स्वाहा ॥ इदं विष्णवे इदन्न मम ॥

(४) ओ३म् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय इदन्न मम ॥

(५) ओ३म् इन्द्राण्यै स्वाहा । इदमिन्द्राण्य इदन्न मम ॥

(६) ओ३म् अश्विभ्यां स्वाहा ॥ इदमश्विभ्याम् इदन्न मम ॥

(७) ओ३म् आश्वयुज्यै पौर्णमास्यै स्वाहा ॥ इदमाश्वयुज्यै पौर्णमास्यै इदन्न मम ॥

(८) ओ३म् शरदे स्वाहा ॥ इदं शरदे इदन्न मम ॥

(९) ओ३म् इषश्चोर्जश्च शारदावृतू, अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे शारदावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ स्वाहा ॥ यजुर्वेद अध्याय १४ मन्त्र १६।

(१०) शारदेन ऋतुना देवा एकत्रिँ शत्रृभवः स्तुताः।
वैराजेन श्रिया श्रियँ हावरिन्द्रे वयो दधुः ॥
॥ यजु० अ० २१ मं० २६ ॥

(११) ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात् ॥ स्वाहा ॥

इसके पश्चात् ओ३म् यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। इत्यादि मन्त्रसे उपर्युक्त स्थालीपाकसे ही स्विष्टकृदाहुति देकर तथा सामान्य पूर्णाहुति देकर सब एकत्रित जन हुतशेष भक्षण करें।

रात्रि के समय सपरिवार पूर्ववर्णित दुग्धशर्करा मिश्रित तथा तुलसी पत्र युक्त चौलों के आहार का सेवन किया जाय तथा इष्ट मित्रों की मण्डली में शरच्चन्द्रिका की प्राकृतिक शोभा का संगीतालाप किया जाय।

शरद् समागत स्वागत।

अहो! सरस बरसात, सरद्-ऋतु-आवनि
सुन्दर परम सुहावनि, सब-मन-भावनि ॥ १ ॥

सोहत विसद अकास, कास-बन फूले
खग मृग सोभा निरखि, मगन-मन-भूले ॥ २ ॥

बिलसत सरोवर कुमुद, सरित भईं दूबरि
उज्जल-जल-अवगाह, सुखद्-सुरसरि-सरि ॥ ३ ॥

विकसित कुसुम-द्रुमालि, चहुं दिसि सोभहिं
अद्भुत आभा निरखि, देव-गन लोभहिं ॥ ४ ॥

वारिद्-गन बिलगाय, गये निज-देसहि
उडुगन उदित उजास, अकास असेसहि ॥ ५ ॥

विमल मयङ्क मयूख, अमिय बरसावहि
सतगुन समुद सुहास, समुद् सरसावहि ॥ ६ ॥

घन वन भौंरत भौंर, छके मद् सनि सनि
सारस सुआ मराल, बिहरि रहे, बनि ठनि ॥ ७ ॥

दल फल अन्न सुठि स्वाद, सस्य तृन नव नव
खेतन खेचर-भीर चहकि रहीं कलरव ॥ ८ ॥

जल थल गगनि अकास, छई अब जो छवि
सो सब अकथ अपार, सकहि कहिं को कवि ॥ ९ ॥

ऋतुवर! सरद सुहावनि, स्वागत स्वागत!
तुम्हहित मम हिय रहौ बहुरि अनुरागत ॥ १० ॥

(कविवर पं० श्रीधर पाठक कृत)

दम्पती चतुर्थी

कार्तिक बदि चतुर्थी।

जिस घर प्रणय-प्रगाढ़ दम्त-दम्पति में होता।
उसकी सुषमा देख स्वर्ग भी फीका होता॥
वे पति पत्नी सौख्य-सिन्धु के मीन कहाते।
कुल-वर्धन शुचि-मार्ग सकल जगको दिखलाते॥
दम्पति-चतुर्थी पर्व उसके पोषणार्थ प्रशस्त है।
जिसके मनाने में हृदय से सुभग-जन सब व्यस्त है॥

(पं० टीकाराम भट्ट विशारद)

अहो! प्रेम यह पद भी कैसा प्रिय, मधुर और कोमल है। संसार के सारे सिद्धान्तियों के सिद्धान्तों का सारांश इन दो अक्षरों से संघटित एक 'प्रेम' शब्द में सन्निहित है—

दो ही आखर प्रेम के, पढ़ै सो पण्डित होय।

प्रेम संसार की ज्योति है, परमेश्वर प्रेममय है। विचार कर देखा जाय तो मनुष्यत्व प्रेम का ही पर्याय है। इस संसार में एक ही शिक्षा लेने की आवश्यकता है और वह प्रेम की शिक्षा है।

घृणा राक्षसों की सम्पत्ति है। क्षमा मनुष्यत्व का चिन्ह है। परन्तु प्रेम देवताओं का सहज स्वभाव है। परमेश्वर पूजा का नहीं प्रेम का भूखा है। जिस मनुष्य ने कभी प्रेम नहीं

किया वह कभी भी परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकता। परमेश्वर के प्यारे वही हैं जो उसकी सृष्टि से प्रेम करते हैं। वस्तुतः दूसरों से प्रेम करना अपने आप से प्रेम करना है। परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम एक दूसरे से प्रेम करो। दया द्वार खोलती है, परन्तु प्रेम उस के भीतर पहुँचा देता है। प्रेम वह वस्तु है जो साधारण गृह को आनन्द सदन बना देती है।

प्रेम का अर्थ अपने साथियों के साथ एकता का अनुभव करना है। सच्चा प्रेम हृदय को विकसित करता है। इन्द्रियलिप्सा से रहित प्रेम विशुद्ध आध्यात्मिक प्रकाश हो जाता है परन्तु सांसारिक प्रेम का अर्थ 'बाह्य सौन्दर्य का अनुभवमात्र' है। इच्छा प्रेम का केवल रूपान्तर है। मनुष्य अपनी ही दृष्टि से किसी वस्तु को चित्ताकर्षक बना लेता है। वह उस पर बार बार दृष्टिपात कर के उस पर सौन्दर्य का आवरण चढ़ा देता है फिर स्वयं ही उस के प्रेम में फँस जाता है। सांसारिक प्रेम भी शुद्ध और पवित्र हो सकता है। भोग विलास और प्रेम में भी बड़ा अन्तर है। सच्चा प्रेम पापियों को भी सुधार देता है।

प्रेम के शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और दाम्पत्य पाँच प्रकार माने जाते हैं इन में से प्रथम शान्त प्रेम तो आध्यात्मिक ही हो सकता है और शेष चार भेद सांसारिक प्रेम के ही चार प्रकार हैं। आज दम्पती चतुर्थी के दिन यहाँ दाम्पत्य प्रेम का ही प्रसंग प्रस्तुत है। दाम्पत्य दम्पती की ही भाव-वाचक संज्ञा है। दम्पती दम् और पति दो शब्दों का द्विवचनान्त समस्त पद है। संस्कृत व्याकरणानुसार समास में 'जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते' इस वृत्ति से आकृति

गण में जाया को जम् और दम् आदेश हो जाते हैं। इस प्रकार दम्पती का अर्थ है जाया और पति। जाया का अर्थ मनुस्मृति में इस प्रकार दिया गया है—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥

(मनु० अध्या० ६ श्लो० ८)

अर्थ—पति भार्या में प्रवेश कर के संसार में उत्पन्न होता है। यतः वह जाया में पुनः उत्पन्न होता है इस लिए उस को (जाया को) जाया कहते हैं।

क्यों कि जाया शब्द की व्युत्पत्ति जनी प्रादुर्भावे धातु से होती है इस से ज्ञात होता है कि सन्तानोत्पादनार्थ पति की प्रेमपात्र धर्म पत्नी ही जाया कहलाती है। धर्मपत्नी शब्द का भी यही अर्थ है कि जिसको (सन्तानोत्पत्तिरूप) धर्मार्थ अपनी पत्नी (शील आदि की रक्षिका) बनाया जाय, वही धर्म-पत्नी है। धर्म पत्नी इस समस्त पद में अश्वघासादिवत् तादर्थ्यषष्ठी समास है। वैसे तो पति पत्नी वा दाम्पत्यभाव भी एक प्रकार का सख्य वा मैत्री भाव ही है। विवाहसंस्कार की सप्तपदी क्रिया में पति पत्नी को 'सखे सप्तपदी भव' (पारस्करगृह्यसूत्र, काण्ड १ कण्डिका ८) इस उक्तिमें "सखे" (हे मित्र) इस हेतुगर्भ सम्बोधन से सम्बोधित करता है। वस्तुतः दो आत्माओं के विवाह (सम्बन्ध) का नाम ही मैत्री है। अन्य मतावलम्बियों के यहाँ विवाह इन्द्रियसुख के लिए केवल भौतिक शरीरों के सम्बन्ध का नाम है किन्तु वैदिक धर्मावलम्बियों के यहाँ दो आत्माओं के सम्बन्ध को विवाह कहते हैं।

प्रेम के सख्य और दाम्पत्य भाव को पृथक रखने का केवल

यह कारण है कि दाम्पत्यभाव में शृङ्गाररस का भी समावेश रहता है किन्तु सख्यभाव उस से रहित होता है।

आज कल पवित्रता के प्रचारक महाशय शृङ्गार को सर्वथा हेय वस्तु समझते हैं क्यों कि उच्छृङ्खल और अश्लील शृङ्गार ने जनता के बल और वीर्य को बड़ी हानि पहुंचाई है, परन्तु शुद्ध शृङ्गार का क्षेत्र परस्पर प्रेमासक्त दम्पती ही हैं। उन में शृङ्गार पूर्ण विकास पाता है और इसी शृङ्गार को साहित्यिकों ने 'शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः' (शृङ्गार पवित्र और उज्ज्वल है) कह कर प्रथम वा सर्वश्रेष्ठ रस के नाम से निर्दिष्ट किया है। यदि शृङ्गार दम्पती के परस्पर प्रेम को प्रेरित वा उत्तेजित करने का अमोघ साधन है तो उस से हानि के स्थान में लाभ की ही अधिक आशा है। क्या दम्पती के उत्कृष्ट प्रेम के विना गृहस्थाश्रम सुखधाम बन सकता है? स्वर्ग है वह गृह जिस में पति पत्नी सच्चे मन से परस्पर अनुरक्त और एक दूसरे के हित साधक रहते हैं। किसी राष्ट्र के स्रोत को सतत प्रवाहित रखने का साधन प्रेमाश्रयीभूत गृहस्थाश्रम ही हो सकता है। मनुस्मृति के निम्नलिखित पद्यों में इस भावको कैसी उत्तमता से प्रदर्शित किया गया है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

यदि हि स्त्री न रोचेत, पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः, प्रजनं न प्रवर्त्तते॥
स्त्रियां तु रोचमानायां, सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां, सर्वमेव न रोचते॥

॥ मनु० अ० ३। श्लोक ६०, ६१, ६२॥

अर्थः—जिस कुल में भार्या से भर्ता और भर्ता से भार्या सन्तुष्ट रहते हैं उसी कुल का कल्याण होता है ॥ ६० ॥ यदि पत्नी अपने प्रति पति की रुचि उत्पन्न न कर सके और वह अपने पति को प्रसन्न न रख सके तो पति की प्रसन्नता के विना सन्तति नहीं चल सकती ॥ ६१ ॥ पत्नी के प्रसन्न रहने पर सारे परिवार में प्रसन्नता रहती है और उस के अप्रसन्न रहने पर सारा परिवार उदास रहता है ॥ ६२ ॥

करुणारस के दीक्षागुरु महाकवि भवभूति ने अपने प्रसिद्ध दृश्य काव्य उत्तररामचरित में दम्पती के परस्पर प्रेम के फल सन्तति के स्वरूप का कैसा हृदयग्राही वर्णन करके वात्सल्यरस का क्या ही उत्तम परिपाक किया है।

प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः ॥

अंतःकरणतत्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनंदग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥

भावार्थ—सन्तान स्नेह की अन्तिम सीमा है और यह माता पिता के परस्पर संयोग को स्थिर रखने वाली है। सन्तति माता पिता की प्रीति और संयोग से उन के अन्तःकरण तत्व के आनन्द की एक गाँठ बँधी हुई है।

उपर्युक्त पर्यालोचना से विचारशील महाशय सहज ही समझ सकते हैं कि संसार में दाम्पत्य प्रेम के संरक्षण और संवर्धन की कितनी बड़ी आवश्यकता है। वसे तो प्रति दिन ही इस प्रेमवल्लरी को अन्योन्यानुराग वारि से सतत सींचते रहने और आदरावलम्ब देते रहने की पूर्ण अपेक्षा है। आङ्गल भाषा की उक्ति है-

Love like a creeper withers and dies, if it has nothing to embrace.

अर्थ--प्रेम वनस्पतिलता के समान मुर्झा जाता है और मर जाता है यदि उस को ऊपर चढ़ने वा खड़ा रहने के लिए कोई अवलम्ब नहीं मिलता।

परन्तु इस कार्य के विशेष सम्पादनार्थ कोई विशेष अवसर भी अपेक्षित है। वैदिक धर्मी आर्यों के पर्वों की एक यह विशेषता है कि उन के विशेष २ पर्व विशेष २ कार्यों के लिए उद्दिष्ट हैं। कोई पर्व किसी विशेष गुण विशिष्ट तथा विभूति विभूषित विशेष महानुभाव की स्मृति मनाने के लिए नियत हैं तो कोई पर्व किसी विशेष भाव की जागृति के लिए स्थापित है। श्रीरामनवमी और श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पूर्व पुरुषोंके स्मारक पर्व हैं तो श्रावणी, ऋषि तर्पण स्वाध्याय के प्रचारार्थ, विजया-दशमी क्षात्र भाव के विकासार्थ, हरितृतीया और शरत्पूर्णिमा ऋतूत्सव के आनन्दानुभवार्थ निर्दिष्ट हैं।

इसी प्रकार यह दम्पतीचतुर्थी दाम्पत्यप्रेम के पोषणार्थ प्रचलित कीगई थी और आगे वर्णियमाण भ्रातृद्वितीया भ्राता और भगिनी के स्नेह संवर्धनार्थ संस्थापित की गई थी।

आज कल दम्पती चतुर्थी का रूप कुछ ऐसा विकृत हो गया है कि उस से उसके प्राचीन वा स्मार्त वैदिक स्वरूप का तो कुछ भी पता चलता ही नहीं प्रत्युत उसका साम्प्रतिक परिवर्तित रूप (मृत्पात्र करवा, चन्द्र का पूजन और प्रचलित कहानी की आवृत्ति आदि) उस की पौराणिक आकृति से भी बहुत दूर जा पड़ा है। यदि इस पर्व का आधार दाम्पत्यप्रेम का परिवर्धन रूप उच्च उद्देश्य न होता तो इसका वर्तमान रूप तो इस को आर्यपर्वावलीमें स्थान प्रदान की भी आज्ञा न देता, किन्तु हिन्दी की इस कहावत के अनुसार कि 'न रहेगा

बाँस न बजेगी बाँसरी' यदि मूल का ही उच्छेद कर दिया जाय तो फल और पुष्पों की आशा किस प्रकार की जा सकती है। यदि दम्पती चतुर्थी के पर्व के अस्तित्व का ही लोप कर दिया जाय तो उस के उपादेय और उच्च उद्देश्य दाम्पत्य प्रेम-परिवर्धन की प्राप्ति की प्रत्याशा भी खपुष्प ही हो जायगी।

इस के अतिरिक्त उत्सव और पर्वों में मनुष्य की विशेषतः स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है यही कारण है कि आर्य-सामाजिक पुरुषों के अपने विशेष पर्व अद्यावधि प्रचलित न करने वा परम्परागत पर्वों को स्वसिद्धान्त सम्मत उपयोगी रूप न देने के कारण उन की गृहदेवियाँ पौराणिक त्यौहारों को अविकल रूपेण करती रहती हैं। बड़े २ कट्टर आर्य सामाजिक पुरुषों के गृह में भी पौराणिक पर्व अभी तक ज्यों के त्यों प्रचलित हैं। यह हो नहीं सकता कि आर्य गृहिणियों की पड़ौसिनें तो पर्व मनाती रहें और वे मनमसोसे उदास बैठी रहें। सर्वसाधारण दार्शनिक धर्म वा केवल ज्ञानकाण्ड के अनुगामी नहीं हो सकते, उन की तो श्रद्धा-लता को हरी भरी रखने के लिए कर्मकाण्डकी विशेष आवश्यकता होती है। अतः आर्य-समाज के पुरोहितों वा नेताओं को आर्य पर्वों के प्रचार में इस नीति का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि सर्वसाधारण की श्रद्धा की वल्लरी किसी अवलंब के बिना नष्ट न हो जाय। इसी नीति को लक्ष्य में रख कर इस आर्य पर्व पद्धति के लेखक ने दम्पती चतुर्थी और भ्रातृ द्वितीया के पर्वों के वर्तमान रूपों से उन के प्राचीन स्वरूपों का विशेष परिचय न पा कर भी उन को वेदाविरुद्ध आर्य सिद्धान्त सम्मत स्वरूप देने का उद्योग किया और उन से क्रमशः दाम्पत्य प्रेम का परिपोषण और भ्राता भगिनी का स्नेह संवर्धन अपना लक्ष्य रक्खा है। दम्पती चतुर्थी की पद्धति इस प्रकार होनी चाहिए।

पद्धति

प्रातः सामान्य पर्व पद्धति में उल्लिखित विधानागृह्य कृत्यानुसार गृहमार्जन लेपनादि के अनन्तर दम्पती सामान्य होम होना चाहिये। उस में दाम्पत्यप्रेम तथा गृह्य सुख के उपदेशपरक निम्नलिखित मन्त्रों से उन के अर्थ विचार पूर्वक विशेष आहुतियाँ दी जायँ।

(१) ओ३म् मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥ स्वाहा॥ पार० का० २ कं २॥

(२) त्वष्टा जायामजनयत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम्। त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम्॥ स्वाहा॥ अथर्व वेद, काण्ड ६ वर्ग ७८ मं० ३॥

(३) इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥ स्वाहा॥ अथ०वे०, का०१४, व० १, मं० २२॥

(४) युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु। ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम्॥ स्वाहा॥ अ०वे का०१४, व०१, मं० ३१॥

(५) आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्। पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्॥ स्वाहा॥ अथ०, का०१४, व० १, मं० ४२॥

(६) यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥ स्वाहा॥ अथ०, का० १४, व०१ मं०४३

(७) भगस्ते हस्तमग्रहीत्सविता हस्तमग्रहीत् । पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥स्वाहा॥ अथ०,का० १४, व०१,मं०५१॥

(८) ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः । मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम् ॥स्वाहा॥ अथ०, का०१४, व०१, मं० ५२ ॥

(९) अभ्रातृघ्नीं बृहस्पते । इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥ स्वाहा ॥ अथ०,का०१४, व०१, अनुवाक१, मं०६२॥

(१०)अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥स्वाहा॥अथ० का०१४, अनुवाक २, वर्ग २ मं० १७ ॥

(११) सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः । स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान्विशेमान् ॥स्वाहा॥अथ०,का०१४, प्रपाठक १६, अनुवाक २, व० २, मं० २६ ॥

(१२) आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गली पतिलोकमाविशेमं शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥स्वाहा॥ अथ० का० १४, प्र० १६, अ० २, व० २; मं० ४० ॥

(१३) ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः । वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुपस्पृशात् ॥स्वाहा ॥ अथ०, का० १४, प्रपा० १६, अनु० २, वर्ग (सूक्त,) २, मन्त्र ५१ ॥

(१४) इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती । प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ स्वाहा ॥ अ०, का० १४, प्रपा० १६, अनु० २, वर्ग (सूक्त) २, मन्त्र ६४ ॥

दम्पती चतुर्थी के दिन पौराणिक भगिनियाँ उपवास रखती हैं और रात्रि के समय पूरी कचौरी पूड़े आदि नाना स्वादु व्यञ्जन बनाकर उनका वायनक (बायना) बड़ी बूढ़ियों को भेंट करती हैं। यदि उपवासव्रत हृदय में सतोगुण-वर्धक और शुद्धता संचारक माना जाय, (मतिमंद लेखक इस विषय में सिद्धान्त रूप से कुछ नहीं कह सकता) तो उपर्युक्त कृत्य में कुछ भी वेद विरुद्धता नहीं है। उसमें इतना संशोधन और होना चाहिए कि उपवासव्रत जाया और पत्नी दोनों को करना चाहिए। यदि उपवास अभीष्ट न हो तो मध्यान्ह में ही स्वादु भोजन बनाकर उसके वायनक (बायने) से माता और पितामही आदि मान्या वृद्धाजनों की पूजा करनी चाहिए, और सेवक आदि आश्रित जनोंमें भी उसका वितरण करना चाहिए जिससे उनके आशीर्वाद से दम्पती फूलते फलते रहें।

सामाजिक कृत्य

इस पर्व में सामाजिक कृत्य कुछ नहीं है। यह पर्व गृह्य ही है

—०—

भ्रातृ द्वितीया

कार्तिक सुदि द्वितीया

श्रेष्ठता भ्रातृत्व की है, शुद्ध भगिनी-नेह में।
भव्यता भगिनीत्व की है, भव्य-भ्रातृ स्नेह में॥
भ्रातृ-दोयज ही बना, इस हेतु पर्व पवित्र है।
भ्रात-भगिनी-प्रेम का यह दिन समुज्वलचित्र है॥

(पं० टीकाराम भट्ट विशारद)

आर्य पर्वों की यह विशेषता कई बार बताई जा चुकी है कि हमारे विशेष २ पर्व हमारे विशेष २ उपयोगी भव्यभावों के दृढ करने के लिए उद्दिष्ट हैं। यदि श्रावणी उपाकर्म स्वाध्याय के संवर्धनार्थ, विजयादशमी क्षात्र तेज के विकासार्थ शारदीय नव शस्येष्टि (दीपावली) वैश्य विभूति के विवर्धनार्थ और दम्पती चतुर्थी दाम्पत्य प्रेम के पोषणार्थ नियत हैं तो भ्रातृ द्वितीया भ्राता और भगिनीके स्नेहके उज्जीवनार्थ निर्दिष्ट है। यद्यपि कौटुम्बिक संश्लेष (बन्धन) और स्नेह प्रायः प्रत्येक प्राणीमें पाया जाता है परन्तु कई प्राणियों में उसका विकास प्रचुर परिमाण में दृष्टिगोचर होता है। चक्रवाक (चकुआ चकुई) और सारसका दाम्पत्य प्रेम और चटकादि पक्षियोंका अपत्यवात्सल्य उदाहरणीय और आदर्श है। परन्तु तिर्यग्योनियों में जहाँ वह असार्वत्रिक और साहजिक होता है वहाँ सर्व श्रेष्ठ प्राणी मननशील मनुष्य में भी वह सार्वत्रिक और स्वाभाविक

होने के अतिरिक्त बुद्धि पूर्वक भी है। मनुष्य उसकी संवृद्धि और पुष्टि के लिये परस्पर दर्शन और स्पर्शन आदि नाना प्रकार के उपायों और उपचारों को काम में लाता रहता है।

भ्राता और भगिनी के स्नेह की संवृद्धि के लिये भ्रातृ-द्वितीया का पर्व एक ऐसा ही उपाय है। यह पर्व कौटुम्बिक प्रेम के प्रकर्षकारक पर्वों में परमोत्कृष्ट और भ्रातृ भगिनी भाव की स्थिरता तथा वृद्धि के लिये परम प्रयोजनीय है।

वैदिक मतानुयायियों के सामाजिक संगठन में पुत्र ही पिता के रिक्थ (विरसे) का भागी होता है, और इस लिये पितृ गृह से उसका सम्बन्ध अविच्छिन्न बना रहता है, परन्तु पुत्री पिता की सम्पत्ति की धर्मशास्त्रानुसार दायभागिनी न होकर पतिगृह में स्थानान्तरित हो जाती है ? पितृकुल से उस का सम्बन्ध विच्छेद सा होजाता है। पिता के गोत्र तक से उसका सम्बन्ध छूट जाता है और वह अपने पति की सगोत्रा और अर्द्धाङ्गिनी बन जाती है। पितृकुल से दूर स्थापित किये जाने के कारण ही उसकी दुहिता संज्ञा हुई है। दुहितृ शब्दकी निरुक्ति निरुक्तिकार यास्काचार्य ने ' दुर्हिता दुहिता दूरेहिता" (निरुक्त अध्याय ३ खण्ड ४) की है जिस का अर्थ है कि दूर रक्खे जाने के कारण पुत्री को दुहिता कहते हैं।

इस के अतिरिक्त पुत्री कभी किसी महासमृद्ध गृह में विवाही जाकर उसकी पटरानी बनती है और कभी वह किसी निर्धन की गृहिणी बन कर अपने भाग्य पर संतुष्ट रहती है। ऐसी अवस्था में उस की भ्राताओं से विच्छिन्नता सुदूरवर्तिता और असमानता अनिवार्य है और भ्रातृभगिनी के स्नेहबन्धन की शिथिलता की प्रबल सम्भावना है। इस दोष को दूर करने के लिए भ्रातृद्वितीया का पर्व अमोघ उपाय है। इस अवसर

पर भ्राता अपनी भगिनी के गृह पर जाकर उसकी कुशल-क्षेम पूछना और उस को दक्षिणादि उपहारों से सत्कृत करना अपना कर्तव्य समझता है। भगिनियाँ भी इस तिथि को अपने भ्राताओं के शुभागमन की बाट मुँह उठाए जोहती रहती हैं कि कब भ्राता उन के गृह को अपने पदार्पण से पवित्र कर के अपने कुशल मंगल से उनको हर्षित और आनन्दित करता है और उनको भोजनादि सेवा को स्वीकार करके उनको कृत कृत्य करता है। संसार में अन्य सब पदार्थ सुलभ वा दुर्लभ हो सकते हैं किन्तु सहोदर भ्राता और भगिनी का सम्बन्ध और स्नेह अलभ्य है और फिर उन का यह निःस्वार्थ प्रेम तो सर्वथा स्वर्गीय वस्तु है। इसी निःस्वार्थ प्रेम के वशीभूत भ्राता स्वभगिनी के संकटमोचन के लिए सदैव सन्नद्ध रहे हैं। आर्यसभ्यता की यह विशेषता है कि पितृसम्पत्ति में भाग न पाकर भी भगिनी अपने भ्राता की समृद्धि से कभी ईर्षा नहीं करती प्रत्युत उस की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति की ईश्वर से प्रार्थना करती रहती है। भ्राता भी समय समय पर उस की और अपनी सन्तान आदि के विवाह आदि अवसरों पर द्रव्यदान और भूषणादि उपहारों से उसकी सहायता और सत्कार करना अपना कर्तव्य समझता है। भ्रातृद्वितीया के वर्षर्तु व्यतीत हो जाने पर कार्तिक सुदि द्वितीया को रखने का यह प्रयोजन था कि भ्राता वर्षा भर के मार्गावरोध के चिरकाल पश्चात् अपनी भगिनी के कुशल समाचार लेने के लिए शरदृतु के गम्य तथा स्वच्छ मार्गों से उस के गृह पर स्वयं उपस्थित होकर उस के दर्शन कर सके। भारत के महाराष्ट्र आदि प्रायः प्रान्तों में यह रीति प्रचलित है कि भ्रातृद्वितीया के दिन भ्राता

अवश्य अपनी भगिनी के घर जाता है। भगिनी उद्वर्तन (उबटन) आदि अभ्यंग पूर्वक उस को स्नान कराती है और नानाप्रकार के स्वादु सरस व्यंजन बना कर उसको भोजन कराती है। यदि भ्राता किसी कारण वश भगिनी के घर नहीं जा सकता तो वह भगिनी को ही अपने घर बुला कर उस से अपने मस्तक पर तिलक कराकर उस को दक्षिणा भेंट करता है। यदि दोनों में से किसी का भी किसी कारण वश एक दूसरे के घर आना जाना न हो सके तो भगिनी श्रीफल और मिष्टान्न भ्राता के घर भेज देती है और भ्राता भी स्ववित्तानुसार उस की सेवा में दक्षिणा प्रेषित करता है। पुराणों में कई प्रकार के भयानक और रोचक वाक्यों से प्रशंसा-वाद द्वारा इस कृत्यकी अवश्यकर्तव्यता का उपदेश दिया गया है। भ्रातृद्वितीया के दिन भगिनी के घर का भोजन पुण्य प्रदायक और यमयातना का निवारक बतलाया गया है। आज कल के विज्ञानकाल में अश्रद्धालु शिक्षितम्मन्यों की स्थूल दृष्टि से पर्वों के एतादृश तत्त्व तिरोहित रहते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए पुराणों के तादृक् भयानक और रोचक वचनों की उत्पत्ति हुई थी। आर्य पुरुषों से आशा है कि वे ऐसे वाक्यों की अपेक्षा न रख कर अपने दीर्घदर्शी पूर्वपुरुषों के प्रचलित पुण्यपर्वों की उपादेयता और उपयोगिता से पराङ्मुख न होंगे और उनको उनके परिमार्जित रूप में श्रद्धा पूर्वक यथाविधि मनाते रहेंगे।

पद्धति

गृह्य कृत्य

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है भ्रातृद्वितीया के दिन भ्राता को भगिनी के घर जाना चाहिये वा भगिनी को सादर

अपने घर पर बुलाना चाहिये। इस दिन भगिनी प्रातः ही गृह परिमार्जन और लेपनादि से निवृत्त होकर स्नान और नवीन वस्त्र धारण कर के सामान्य पर्व पद्धति में प्रदर्शित प्रकारानुसार होम करे जिस में अपने भ्राता को सपरिवार कुशलक्षेम के लिये परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करे। तदनन्तर भ्राता को प्रीतिपूर्वक अपने हाथ से परस कर भोजन कराए और भोजन के पश्चात् उस के मस्तक पर कुंकुम (ज़ाफ़रान) मिश्रित वा उस के अभाव में हरिद्रामिश्रित चन्दन का तिलक लगा कर श्रीफल (गोला वा नारियल) और मिष्टान्न उसकी भेंट करे। भ्राता भी उसको उसी समय स्ववित्तानुसार सादर दक्षिणा प्रदान करे। यदि भ्राता वा भगिनी का किसी कारण वश एक दूसरे के घर पर आना जाना न हो सके तो भगिनी को अपने घर पर उपर्युक्त कृत्य कर के श्रीफल और मिष्टान्न का उपायन स्वकुशल पत्र सहित भ्राता के पास भेज देना चाहिये और भ्राता भी स्वकुशल समाचार सहित दक्षिणा भगिनी की सेवा में भेज देवे।

भ्रातृद्वितीया केवल गृह्य पर्व है, इस में सामाजिक कृत्य कुछ नहीं है।

गोपाष्टमी

कार्तिक सुदि अष्टमी।

जाकी बली संतति सहाय कै किसानन की,
जोति खेत अन्न की करत अधिकाई है।
जासो मिलै दूध दही माखन मलाई मही,
खोवा और नाना स्वाद पूरित मिठाई है॥
दूध जाको जीवन औ गोबर लौं पावन है,
मूत्र जाको देह अरु मन की दवाई है।
इतने अनमोल दै पदारथ जो भारत को,
लेत बदले में रूखी सूखी घास खाई है॥
उठि कै सवेरे जाय मेरे जासु आदर सों,
पहले दरस लखो मोद अधिकाई है।
भारत को जीवन ही गऊ के अधीन जानो,
भारत की भूमि हरि गऊ ही बनाई है।
गऊ की बखानी बहु महिमा है वेदन में,
गऊ की सुकीरति पुरानन में गाई है॥
संपत्ति की सार अन्न धन की अधार गऊ,
धर्म की सकल भार गाय पै सदाई है॥

(कविवर श्री राय देवी प्रसाद जी पूर्ण)

गोपाष्टमी यह सुपर्व इसी लिए है,
हो भाव पुष्ट उपरोक्त अभीष्ट ये है ॥

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है अर्थात् यहाँ की ९० प्रतिशत जनता के जीवन का आधार (सहारा) कृषि ही है। कृषि का मुख्य कार्य हल की जुताई है। कृषि शब्द 'कृष विलेखने' (भूमि कुरेदने वा हल जोतने अर्थ वाली) धातु से बनता है। इसी लिये कृषि के शाब्दिक अर्थ ही हल चलाने के हैं। भारतवर्ष में कृषि के कार्य हल से भूमि की जुताई, गाड़ी से अन्नादि की ढुलाई और चरस द्वारा जल की सिंचाई आदि–बैलों द्वारा ही चलते हैं। बैलों के बिना खेती का व्यवसाय एक दिन भी नहीं चल सकता। बैलों की उत्पत्ति गौओं से ही होती है। इस प्रकार मनुष्य जीवन को स्थिर रखने वाले अन्न की प्राप्ति का साधन गौएं हैं। मनुष्य का पौष्टिक आहार दुग्ध घी भी गौओं से ही प्राप्त होता है। बिना अन्न और घी दूध के भारतीय मनुष्यों की प्राण यात्रा नहीं चल सकती। फलतः भारत में गौ मनुष्य के जीवन का अवलंब है। इसलिए आर्य जनता मातृवत् पालन पोषण करने के कारण गौ को गोमाता कह कर आदर देती है और गौ की रक्षा करना अपना परम धर्म समझती रही है।

गोरक्षा हिन्दू नामधारी आर्य सन्तान का ही धर्म नहीं है प्रत्युत वह मनुष्य मात्र का और विशेषतः प्रत्येक भारत वासी का कर्तव्य होना चाहिए। किन्तु खेद है, कि भारतवासी उस पर यथायोग्य ध्यान नहीं देते। आर्य सन्तान अर्थात् हिन्दू मात्र गौ के साक्षात् हनन को तो महापातक (महापाप) समझते हैं उस की प्रत्यक्ष हत्या के निवारण के लिए वे अपने प्राण तक देने को उद्यत रहते हैं, किन्तु प्रकारान्तर से

गोवंश की रक्षा में असभ्य उपेक्षा करके अप्रत्यक्ष गोहत्या के दोष के भागी होते हैं। वे अज्ञानता वश अपनी गौओं के यथाविधि पालन पोषण में प्रमाद करते हैं और बहुधा बूढ़ी गौओं को बधिकों के हाथ बेच डालते हैं। दूसरी ओर भारत के आर्येतर समुदाय अहर्निश गोवंश विनाश पर तुले हुए हैं। भारत सन्तान गोभक्षक ईसाइयों की संख्या तो अभी अन्य गोभक्षकों की तुलना में न्यूनतर तथा नगण्य है। सब से बढ़ कर भारत की गोसंतति का संहार यहाँ के योरोपियन सेना-निवेशों (गोरों की छावनियों) में होता है। उन से उतर कर गोघात के अपराधी धर्मान्ध मोहम्मदी भाई हैं जो अपनी धर्म-पुस्तकों में अन्य पशुओं की बलि का विधान होते हुए भी केवल गो रक्षकों को चिढ़ाने के लिए अन्न और दुग्ध दान से अपनी समान पोषिका गौओं का वध धर्म के नाम पर करते हैं और इस के कारण आए दिन गोरक्षकों से नित नए झगड़े खड़े करके परस्पर रक्तपात से दूसरों की दास बनी हुई भारत माता की दास्य शृङ्खलाओं को दृढतर करने के कारण बनते हैं।

आज कल दिनों दिन घी दूध की जो दुष्प्राप्यता और महर्घता बढ़ रही है और जिस को देख कर यह अनुमान होता है कि किसी समय ये बलप्रद और अनुपम पदार्थ पृथिवी से लुप्त हो जाँयगे और खेती के लिए बैलों के मिलने में जो कठिनाई उठानी पड़ती है और बैलों का मूल्य दिन प्रति दिन दुगना चौगुना हो रहा है उस से वह समय दूर नहीं दिखलाई देता है जब कि कृषि के व्यापार का चलना इस देशमें असंभव प्राय हो जायगा। इस शोचनीय अवस्था का कारण दिनों दिन बढ़ता हुआ गोरक्षा का अभाव और गोवंश का ह्रास ही है। भारतवासियों की इस समय यही दशा होरही है कि वे

जिस शाखा पर बैठे हुए हैं उसी को काट रहे हैं। भला जिस देश में नित्य प्रति लाखों गौओं का हनन होता हो उस देश में घी, दूध और खेती के साधन बैलों के मिलते रहने-और उन के अभाव में अन्न की प्राप्ति की कब तक आशा हो सकती है। खेद का विषय है कि इस विषय में हमारे गोसंहारक मोहम्मदी भाई अपने विदेश वासी सहधर्मियों से शिक्षा ग्रहण नहीं करते। उन के सधर्मी और काबुल के स्वराज्य सुखभोगी मुसलमान राष्ट्रों ने गोवध को अवैध और दण्डनीय ठहराया हुआ है। इस्लाम की साक्षात् जन्म भूमि और क्रीडस्थली पवित्र मक्के और मदीने के तीर्थतम अरब तक में गोबलिदान प्रचलित नहीं है। योरुप के इङ्गलगड आदि सभ्य देशों में भी गोवध वर्जित है। वहाँ के मांसभक्षी गौ के स्थान में बैल का मांस भक्षण करते हैं। न जाने ईश्वर हमारे मोहम्मदी भाइयों को अपने निज के और अपने स्वदेश के हित की बुद्धि कब प्रदान करेगा।

अहो! विचार तरंग लेखक को कहाँ से कहाँ ले गई। वह अपने मोहम्मदी भाइयों के कुव्यवहार पर अश्रुपात करने बैठ गया। जब तक गोभक्षकों में सुबुद्धि का उदय न हो तब तक गोरक्षाधर्माभिमानी आर्यों को तो अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। उन के धर्मान्ध और बहुधा स्वार्थी तथा कलहप्रिय मुसलमानों के साथ सिरफुटव्वल करते रहने से गोरक्षा न हो सकेगी। उन को मुसलमानों से स्पष्ट कह देना चाहिये कि हम तुम्हारे गोवध से कभी न चिढ़ेंगे यदि तुम चाहो तो अपनी सब गौओं का एक दिन में ही वध कर सकते हो। किसी चिढ़ाने वाले के चिढ़ाते रहने के कुव्यवहार को बंद करने का यही रामबाण योग (नुसख़ा) है कि उस से चिढ़ना छोड़ दिया जाय।

आर्य सन्तान को अपने पूर्व पुरुषों के व्यवहार का अवलंब पुनरपि करना चाहिए। सुदूर भूत काल की बात नहीं है कि उन के पुरुषाओं में यह दृढव्रत चला आता था कि बेटी के विक्रय के समान गोविक्रय को भी जघन्य और अधर्म समझते थे। आधुनिक आर्य पुरुषों को भी कम से कम यह व्रत तो अवश्य लेना चाहिए कि जहाँ तक भी हम से बन पड़ेगा हम गौ को कभी न बेचेंगे और गोभक्षकों और गोवधिकों के हाथ तो उस को कदापि बेचेंगे ही नहीं, जो ऐसा करे वह पञ्चायत से दण्डनीय होना चाहिए। यदि इस व्रत का दृढता से पालन किया जाय तो भारत से गोवध बहुत कुछ आज ही उठ जाय। गोवधिकों को बहुधा गौवें गोरक्षकम्मन्यों से ही प्राप्त होती हैं। इस पापाचरण का शीघ्र से शीघ्र प्रतीकार होना चाहिए।

गोरक्षा के लिये दूसरा व्रत आर्यसन्तानों को यह धारण करना चाहिये कि प्रत्येक परिवार यथाशक्य आवश्यकतानुसार एक वा अधिक गौवों का पालन अवश्य करेगा और उन की सेवा यथा संभव अपने हाथ से करेगा। हमारे पूर्वपुरुष गण्य, मान्य, समृद्ध और नृप तक होते हुए भी अपने हाथ से गोसेवा करना गौरवास्पद और पुण्यप्रद समझते थे। सूर्य वंशावतंस महाराज दिलीप ने अपने गुरु वशिष्ठ की गौ की सेवा उन के आश्रम में रह कर की थी। यादवाधिपति आनन्दकंद श्रीकृष्ण तो गोसेवा के ही कारण गोपाल नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः अपने पशु की जैसी सेवा अपने हाथ से हो सकती है वैसी भृतिभोगी भृत्य से कदापि संभव नहीं है। फिर दूध जैसे उत्तम किन्तु साथही सद्यःसंक्रमणादिदोष ग्राहक पदार्थ के दोहन आदि प्राप्ति और रक्षा का कार्य तो स्वयं अपने हाथों ही विश्वस्तरूपेण हो सकता है।

शायद इसी लिए भी हमारे पूर्व पुरुषों में अपने हाथ से गोसेवा की परिपाटी प्रचलित थी।

उत्तमोत्तम वंशों की गौओं का देशदेशान्तरों में संग्रह कर के अपने यहाँ संरक्षण तथा उन में उत्कृष्ट गुणविशिष्ट वृषभों से गर्भाधान द्वारा गोवंश का उन्नयन भी गोरक्षा का अमोघ साधन है।

प्रत्येक ग्राम में गोचर भूमियों का पृथक् नियत करना और गौओं को शुद्ध और पौष्टिक आहार का देना तथा निर्मल जल का पिलाना भी गोवंशके स्वास्थ्यके लिये अत्यावश्यक है। गोवंश की वृद्धि के लिये इस बात की भी आवश्यकता है कि मनुष्य गोवत्सों के पालन पोषण के लिए प्रकृतिदेवी द्वारा प्रदत्त गोमाता के दुग्ध के सर्वापहार की पापमयी अतितृष्णा का त्याग करें। कहाँ तो रघुवंश के निम्न लिखित श्लोक में महाराज दिलीप की उक्ति में वर्णित एतद्विषयक भारतीयों का उच्चादर्श—

> वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेष,
> मृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
> औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं,-
> षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥
>
> रघुवंश, सर्ग २, श्लोक ६६॥

महाराज दिलीप कहते हैं—

कि मैं बछड़े और होम से बचे हुए दूध को राजा के भूमि की पैदावार के छठे भाग के समान अपने उपभोग में लाना चाहता हूं।

और कहां आज कल के नर पिशाचों की सर्वापहारिणी प्रवृत्ति जो बछिया बछड़ों को पर्याप्त दूध न देकर उनका सुखा सुखा कर मार डालते हैं।

हमको अपनी पालिका पोषिका गोमाता और उनकी संतान अन्नदाता बैलों के साथ अनुकम्पा (दया) और उदारता का व्यवहार करना चाहिए और उनसे इतना ही उपयोग लेना चाहिए जिससे उनके बल का ह्रास न होकर उनके वंश की वृद्धि होती रहे यही वास्तविक गोरक्षा है।

यहाँ तक तो गोरक्षा के विषय में हमारे नित्य प्रति के कर्तव्यों का वर्णन हुआ। किन्तु आर्यों के यहाँ प्रत्येक विभाग में नित्य और नैमित्तिक कर्मों की परिपाटी विहित है अतः नैत्यिक गोरक्षा के अतिरिक्त नैमित्तिक गोरक्षा का भी विधान है और इस के लिये अन्यान्य विशेष विशेष कार्यों के पर्वों के समान एक विशेष पर्व गोपाष्टमी नियत है जो कार्तिक सुदि अष्टमी को मनाया जाता है। उस दिन गौओं की पूजा होती है—उनकी विशेष रूप से सेवा शुश्रूषा की जाती है, उनको नहला धुला कर सजाया जाता है, उनके सींगों को तैल मर्दन आदि से अलंकृत किया जाता है। और उनके कण्ठ को नाना प्रकार के कण्ठों से आभूषित किया जाता है, उनको मीठे पूवे (पूड़े) बना कर खिलाये जाते हैं और आज के दिन उनका दूध नहीं निकाला जाता। उनके बछड़ों को उनके पास यथेच्छ फिरने दिया जाता है और इस प्रकार इस दिन गोवंश को यथेष्ट प्रमुदित किया जाता है।

—o—

पद्धति

गृह्य कृत्य गोपाष्टमी पर्व की पद्धति यह है कि प्रातः उठ कर गोशाला और निजावास गृह का परिमार्जन और लेपन आदि किया जाय और गौवों को बछड़ों और बैलों सहित भले प्रकार नहला धुला कर विभूषित किया जाय। तत्पश्चात् सामान्य पर्वपद्धति में उल्लेखानुसार सामान्य होम किया जाय और उसमें गोरक्षा विधायिनी निम्न लिखित ऋचाओं से विशेष आहुतियाँ दीजांय तथा गौवों के कल्याण के लिये परम पिता परमात्मा से प्रार्थना की जाय—

(१) ओ३म् इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायवःस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मामावस्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वी र्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ स्वाहा ॥ यजुर्वेद अ० १ मं० १।

(२) ओ३म् इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एतानि तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ स्वाहा ॥

यजुर्वेद अध्याय ८ मन्त्र ४३ ॥

(३) इमा मधुमतीर्मह्यमनष्टाः पयसा सह। गाव आज्यस्य मातरः इहेमाः सन्तु भूयसीः ॥

॥ स्वाहा ॥ मन्त्रब्राह्मण १,८,२

(४) उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥ स्वाहा ॥

(५) हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ति मनसाभ्यागात् । दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥ स्वाहा ॥

(६) गौरमीमेदभि वत्सं मूर्द्धानं हिंङ्कृणोन्मातवाउ । सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ स्वाहा ॥

अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त १० मंत्र ४–६ ॥

(७) वशाया दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये ते वै अघ्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते॥स्वाहा॥

(८) वशां देवा उपजीवन्ति वशां मनुष्या उत । वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥स्वाहा॥

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त १० मंत्र ३१ तथा ३४ ॥

मध्यान्ह में मीठे पूए (पूड़े) पका कर गौओं को खिलाये जायँ तथा गोपालक सेवक -े भी दिये जायँ ।

सामाजिक कृत्य

सायंकाल को समाज मन्दिर आदि में सभा करके गोवंश-वृद्धि पर विचार किया जाय और भाषणों द्वारा जनता में गोरक्षा का प्रचार किया जाय।

गो–गौरव ।

(वसन्ततिलका)

है आर्यवंश-ध्रुव-धर्म यही सदा से,
गोवंश-पालन करे, मन को लगा के ।
सुस्वादु खाद्य शुभ निर्मल नीर देवे,
गो का न शाप भ्रम से, नर भूल लेवे ॥ १ ॥
पा घास पात हमसे, वह दुग्ध देती,
आमोद स्वास्थ्य सुख दे, हर दुःख लेती ।
पी के सदा परमपुष्ट हुआ हमारा,
गोदुग्ध को अमृततुल्य कुटुम्ब सारा ॥ २ ॥
संपन्न याग उसके घृत से है होता,
वर्षा से देश धनधान्य समृद्ध होता ।
है भारतीय कृषकों, यह गौ तुम्हारा,
प्यारे सुवत्सवर से, कृषि का सहारा ॥ ३ ॥
जोतें न पुत्र उसके, यदि बैल भूमी,
भूखा मरे बिनु अनाजहि देश सारा ।
है चाम काम उसका, पदत्राण आता,
गो है कभी न कुछ भी, नर-हानि दाता ॥ ४ ॥
गुर्वी है मातृपदवी, इन कारणों से,
गौ को मिली सकल भारत वासियों से ।
गोपाष्टमी यह सुपर्व इसी लिये है,
हो भाव पुष्ट उपरोक्त अभीष्ट ये है ॥ ५ ॥
हे दीनबन्धु, अभिलाष यही हमारा,
गोवंश खूब फल फूल सके हमारा ।
गोपुत्र से सदन हो भर पूर सारा,
स्वास्थादि-वर्धक बहे, नित दुग्ध धारा ॥ ६ ॥

(पं० सिद्धगोपाल कविरत्न)

भीष्माष्टमी।

माघ सुदि अष्टमी।

भूला न किसी भाँति कड़ी टेक टिकाना।
माना मनोज का न कहीं, ठीक ठिकाना॥
जीते असंख्य, शत्रु रहा, दर्प दिखाता।
शय्या शरों की, पाय मरा, धर्म सिखाता॥
अब एक भी न, भीष्म बली, सा सुजान है।
महिमा, अखण्ड ब्रह्मचर्य की महान है॥

कविशिरोमणि श्री पं० नाथूरामशङ्कर शर्मा

संसार के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास में वचनवीर, आवयोवृद्ध ब्रह्मचारी भीष्मपितामह की उपमा की प्राप्ति असंभवप्राय है। जगतीतल के अन्यान्य देशोंमें भी घोर संग्राम हुए हैं। योरुप महाद्वीप के प्राचीन इतिहास में यूनान और ट्रॉय का युद्ध विख्यात है, परन्तु भारतवर्ष तथा यूनान और ट्रॉय के वीरों में आकाश पाताल का अन्तर है। एकिलीज़, हेक्टर, यूलिसीज़, एजकस और एगेमेमनान अवश्य बड़े वीर और प्रबल पराक्रमी थे, परन्तु उनकी तुलना वृद्ध भारत के भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, भीम, अर्जुन और अभिमन्यु से नहीं हो सकती। जो भेद भारत और यूनान की प्राचीन सभ्यताओं में है, वही भेद भारत और यूनान के वीरों में है।

योरुप के वर्तमान इतिहास की तो कथा ही क्या है। उस में उस विचित्र तथा पवित्र चरित्र के चित्र के आभास की सम्भावना भी नहीं जा सकती, जिस की कीर्ति के कीर्तन और गुणों के गायन का प्रसङ्ग आज प्राप्त है। भारत वासियों के लिए भीष्मपितामह के चारु चरित्र की चर्चा इस स्वार्थपरायणता और अधिकार लोलुपता की अन्धाधुन्ध दौड़ के युग में नयन ज्योति दायिनी अमृताञ्जन वर्तिका के समान है। जितनी ही हम उन की पावनी जीवनी का अनुशीलन करते हैं, उतने ही अधिक हमारे नेत्र खुलते जाते हैं और हमारा दृष्टिबिन्दु अधिकार की मृगतृष्णा को छोड़ कर कर्तव्य पालन की ओर झुकता जाता है। महात्मा भीष्मपितामह का सारा जीवन प्रतिज्ञापालन, पितृ भक्ति, धर्म परायणता, निर्भयता और मातृ भूमि में अनुरक्ति का उदात्त उदाहरण है और इन्हीं गुणों से भारतीय राष्ट्र और भारतीय व्यक्ति का उत्थान और अभ्युदय संभव है। अतः आज प्रत्येक पुरुष का परम कर्तव्य है कि वह भारत के वृद्ध कर्मवीर पितामह की गुणावली का मनन करे।

श्री भीष्मपितामह चन्द्रवंशावतंस हस्तिनापुराधिपति सम्राट् शान्तनु के कुल दीपक थे। उन का वास्तविक नाम देवव्रत था। वे अपनी माता गंगा के नाम पर गांगेय भी कहलाते थे। उन की माता उन को शैशवावस्था में ही छोड़ कर परलोक को प्रस्थान कर गई थी और वे मातृ स्नेह से वञ्चित हो गए थे, इस लिए वे पुत्र वत्सल पिता से ही पालित पोषित हो कर प्रौढता को प्राप्त हुए। पुत्र हितैषी पिता ने उन को परा (ब्रह्म) विद्या के अध्ययनार्थ महर्षि वशिष्ठ के

आचार्य कुल में भेज दिया; जहाँ उन्होंने अल्पकाल में ही साङ्गोपाङ्ग वेदों में पारदर्शिता प्राप्त की। फिर उन्होंने नीति-शास्त्र के आचार्य बृहस्पति से राजनीति पढ़ी तथा प्रसिद्ध पराक्रमी परशुराम के पास रह कर शस्त्रास्त्र विद्या की शिक्षा पाई और उस में प्रवीणता प्राप्त की।

उन के यौवन में पदार्पण करने पर उन के पिता महाराज शान्तनु एक दिन गंगा तट के वन में मृगयार्थ भ्रमण कर रहे थे कि उन की दृष्टि परम सुन्दरी एक कैवर्तकामिनी पर पड़ी और वे उस की रूप दीप शिखा के शलभ बन कर उस के पाणिग्रहणार्थी हुए। किन्तु उन्हों ने जब इस की प्रार्थना उसके पिता धीवराधिपति दास राज से की तो उस ने अपनी पुत्री सत्यवती के विवाह के लिये यह पण (शर्त) उपस्थित किया किमहाराज शान्तनु के सत्यवती के गर्भजात पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियत करने पर उन के साथ उस का विवाह हो सकता है। महाराज शान्तनु ने अपने ज्येष्ठ, सर्व गुण सम्पन्न प्रियपुत्र देवव्रत को उस के धर्मशास्त्र प्रदत्त राज्याधिकार से रहित कर के सत्यवती की भावी सन्तान को अपना उत्तरा-धिकारी बनाना स्वीकार नहीं किया परन्तु मन्मथ के बाण का गहरा घाव उन के देह को मथने लगा और उस से वे दिन प्रति दिन कृश होते गए। पिता की यह दशा देख कर देवव्रत को बड़ी चिन्ता हुई और उन के रोग का वास्तविक कारण जान कर वे तुरन्त सत्यव्रती के पिता दास राज के पास गए और उस से यह प्रतिज्ञा की—

एवमेतत्करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥

महा भारत, आदि पर्व ।

अर्थ–जैसा तुम कहते हो वैसा ही होगा सत्यवती का जो पुत्र उत्पन्न होगा वही हमारा राजा होगा ।

इस पर धीवर ने यह आपत्ति उपस्थित की कि आप नहीं तो आप की भावी सन्तान राज्य की अर्थी (मुद्दई) होगी । यह सुन कर भीष्म ने यह भीषण वचन दिया कि–

अद्यप्रभृति मे दास ब्रह्मचर्यम्भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥

महाभारत, आदि पर्व ।

अर्थ--हे दास, मैं आज से आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहूँगा । अपुत्रक होने पर भी मुझ को अक्षय द्यु लोक मिलेगा (नाम चलाने वाले पुत्र के अभाव में भी दिवलोक पर्यन्त मेरी कीर्ति अटल रहेगी) ।

इस भीषण या भीष्म प्रतिज्ञा के कारण ही उसी दिन से देवव्रत भीष्म कहलाने लगे और पीछे से वृद्ध होने पर कौरव और पाण्डवों के पितामह हो कर सर्वत्र भीष्मपितामह विख्यात होगए । उनका नाम ही भीष्मपितामह पड़ गया और उन का वास्तविक नाम देवव्रत सब को विस्मृत होगया ।

भीष्मपितामह अपनी प्रतिज्ञा से पितृ भक्ति का कैसा उत्कृष्ट उदाहरण हम को दे रहे हैं । इस की समरेखा संसार में आप को कहीं न मिलेगी । सकल विषयोपभुक्त पिता के क्षणिक इन्द्रिय सुख के लिये अपने हुए सर्वस्व भव्य भारत

के विशाल राज्य और अद्यावधि अनाच्छादित स्व आयु भर के विषयानन्द का सदा के लिए बलिदान भीष्मपितामह की अद्वितीय वीरता थी परन्तु इस प्रतिज्ञा से भी बढ़ कर कठोर उन का प्रतिज्ञा पालन था। आगे चल कर पिता के स्वर्गवासी होने पर जिस भांति भीष्म ने सत्यवती के पुत्रों की रक्षा की और सुतनिर्विशेष स्नेह से उन का पालन पोषण कर के उन को बड़ा किया तथा सब प्रकार से शिक्षित बना कर उन को राजा बनाया वह इतिहास में अमर है।

दैव की विचित्र गति है कि जिन सत्यवती के पुत्रों के लिये देवव्रत को ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा कर के भीष्म बनना पड़ा था उस के वे दोनों पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य असमय में ही इस असार संसार को छोड़ कर चल बसे और सत्यवती को भीष्म को एकान्त में बुलाकर यह अनुरोध करना पड़ा।

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ॥
तयोरुत्पादयापत्यान् सन्तानाय कुलस्य नः।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥

अर्थ—हे पुरुष श्रेष्ठ, मेरा पुत्र तथा तेरा वीर्यवान् और सुन्दर भ्राता बाल्यावस्था में ही सन्तान हीन हो स्वर्गवासी हो गया। उस की दोनों रानी रूप और यौवन से युक्त काशीराज की पुत्रियाँ पुत्र की कामना करती हैं इस लिये हे महा बाहो मेरी नियुक्ति (नियोग) से हमारे कुल के चलाने के लिए तू

इन दोनों रानियों में सन्तान उत्पन्न कर। तू ही इस धर्म के करने के योग्य है।

परन्तु दृढ़ प्रतिज्ञ भीष्म की प्रतिज्ञा नहीं टल सकती थी। उस ने माता को सब के सदा स्मरण रखने योग्य इन शब्दों में उत्तर दिया।

त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्॥
विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन॥

अर्थ—पृथिवी अपने स्वाभाविक गुण गन्ध को त्याग दे, जल अपने गुण रस को त्याग दे, सूर्य अपने गुण रूपको छोड़ दे वायु स्पर्श को छोड़ दे, इन्द्र अपने विक्रम को और धर्मराज धर्म करना त्याग दे परन्तु मैं अपने धर्म को त्यागने का कभी उद्योग नहीं करूँगा।

भीष्म ने एक बार जो व्रत धारण कर लिया था उस को मृत्यु के दिन तक निबाहा। राज्य रहे चाहे न रहे, वंश चले वा न चले वीर भीष्म की प्रतिज्ञा अटल है। उस को तोड़ना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। अन्त को सत्यवती ने भीष्म से निराश होकर उन से ही वंश वृद्धि का उपाय पूछा। भीष्म के वेदशास्त्रोक्त परामर्शानुसार कृष्ण द्वैपायन व्यासको बुलवा कर उन से प्राचीन वैदिक नियम नियोग द्वारा विचित्र-वीर्य के क्षेत्र—दोनों रानियों अम्बिका और अम्बालिका में दो पुत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न कराए गए जो धर्म शास्त्रानु-सार विचित्रवीर्य के क्षेत्रज पुत्र कहलाए। उन में से धृतराष्ट्र को जन्मान्ध होने के कारण राज्य नहीं मिला इस लिए पाण्डु

गद्दी पर बैठे और वे भी थोड़े दिन राज्य करके स्वर्ग सिधारे। उन के अपने जीवन काल में ही उन के किसी स्थिर रोगवश सन्तानोत्पादन में असमर्थ होजाने के कारण उन की दो रानियों के गर्भ से नियोग द्वारा ५ पुत्रों की उत्पत्ति हो चुकी थी ज्येष्ठा महिषी श्रीकृष्ण की पितृस्वसा (फूफी) पाञ्चालाधिपति कुन्तीभोज की पालिता पुत्री कुन्ती के गर्भसे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन का जन्म हुआ था और कनिष्ठ रानी मद्र देश (सिन्धु नदी तीरस्थ वर्तमान पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त का कोई देश) के अधीश्वर की तनया माद्री से नकुल और सहदेव दो यमजपुत्र उत्पन्न हुए। ये पाँचों पाण्डव कहलाते थे। जन्मान्ध धृतराष्ट्र से उस की रानी गांधार (वर्तमान क़न्धार) नरेश की पुत्री गान्धारी में दुर्योधनादि अनेक पुत्र जन्मे थे जो अपने पूर्व पुरुष के नाम पर कौरव विख्यात थे। पाण्डु के देहावसान के पश्चात् धृतराष्ट्र नाममात्र के लिए राजसिंहानारूढ हुए और राज्य का कार्य भीष्म पितामह के निरीक्षण में चलता रहा। कौरव पाण्डव भी उन्हीं की संरक्षा में शस्त्र विद्या-विशारद द्रोणाचार्य से शिक्षा पाकर युवावस्था को प्राप्त हुए। कौरव और पाण्डवों में राज्य के उत्तराधिकार के लिए बाल्यकाल से ही कलह का बीज बोया गया जिसने समय पा कर पत्र पुष्प समन्वित महाकाय वृक्ष का रूप धारण किया। उस की कथा भारत में वर्णित है और यहाँ उस की आवृत्ति से वृथा लेखवृद्धि का भय है। इसी लिये उस का विस्तार न कर के भीष्मपितामह के उज्ज्वल जीवन के द्वितीय अद्वितीय दृश्य पर दृष्टिपात किया जाता है।

वृद्ध भीष्म पितामह संग्राम भूमि में अजेय रथ पर आरूढ होकर उदिता के समान अपने तेज का प्रकाश कर रहे हैं और

क्षात्रधर्म को पालन करते हुए अपनी अनिवार्य बाणवर्षा से पाण्डव सेना का सतत संहार करते चले जाते हैं। महाभारत को आरम्भ हुए ९ दिन बीत चुके हैं। ९ दिन से वह रोम-हर्षण संग्राम बराबर होरहा है, जिसने भारत की अद्वितीय वीरता का अन्तिम दृश्य दिखला कर उसके गौरव को सदा के लिए सुला दिया। कुरुक्षेत्र का रणांगण रुधिर के प्रवाह से लाल होगया है। मांस और अस्थियों का विकट कर्दम (कीचड़) नेत्रों के सामने उपस्थित है। कायर अपने क्षुद्र प्राणों के मोह में पड़ कर पीठ दिखला रहे हैं। सच्चे क्षत्रिय शूरवीर शङ्खनाद और धनुष टंकार के घोष से उत्तेजित होकर इस असार संसार और नश्वर शरीर को अपने धर्म के सामने तुच्छ समझते हुए उस घोर युद्ध में सानन्द जुटे हुए हैं। भीष्म पितामह ने अपने बाणों की वर्षा से अर्जुन के रथ को छा दिया है। वीरवर अर्जुन भी अपने गाण्डीव से निकले हुए तीक्ष्ण बाणों से भीष्म के धनुष् तक को छिन्न भिन्न कर रहे हैं। भीष्म पितामह अपने रण प्रवीण पौत्र के हस्तलाघव की शतमुख से से प्रशंसा कर रहे हैं। भीष्म पितामह ने युद्ध से पूर्व दुर्योधन से इस कुलध्वंस से बचने का बहुत कुछ अनुरोध किया था। परन्तु उसके न मानने पर कौरव कुल के सर्वनाश को अनिवार्य जान कर अपने अन्नदाता दुर्योधन के अन्न से परिपुष्ट अपने शरीर की उसी की ओर से लड़ कर बलि देदेना अपना धर्म माना और उससे यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं दस दिन तक पाण्डवों के दस सहस्र योद्धाओं का संहार करूंगा। आज तक वे उसी कठिन प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं। आज पाण्डव दल आबाल ब्रह्मचारी के अविराम बाणों के प्रचण्ड प्रहार से विह्वल हो उठा। अर्जुन के परम सखा और संरक्षक

सारथी श्रीकृष्ण को पाण्डवसेना का संहार समीप दीखने लगा। वे व्यग्र होकर स्वयं शस्त्र ग्रहण न करने की अपनी प्रतिज्ञा को भूल गए और अपना सुदर्शन चक्र लेकर भीष्म पितामह के सम्मुख संग्राम के लिये जाडटे। श्री भीष्म पितामह ने श्री कृष्ण को सामने युद्धार्थ प्रस्तुत देख कर प्रसन्नता से कहा। "यादवेन्द्र, आइये आइये, आज अहो भाग्य है जो आपके साथ संग्राम करना पड़ा। आप जैसे महापराक्रमी क्षत्रिय के हाथ से वीर-गति मेरे लिए गौरवप्रद है। आपके साथ युद्ध यशस्कर है।" अर्जुन ने विनय पूर्वक श्रीकृष्ण को उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण कराया और अनेक अनुनय करके उनको युद्ध से विरक्त किया। उस दिन मानो सूर्य भी रुधिर वृष्टि के स्नान से रक्त होकर अस्ताचल को चला गया। दोनों ओर की परिश्रान्त सेनाओं ने भी विश्राम ग्रहण किया।

उस समय सब निद्रा देवी की गोद में सोरहे हैं किन्तु महाराज युधिष्ठिर के शिविर में मन्त्रणा हो रही है। पाण्डव भीष्म पितामह के पराक्रम को देख कर विजय से निराश हो रहे हैं। युधिष्ठिर कह रहे हैं—"पितामह का पराजय असम्भव है, दिन प्रति दिन मेरी सेना क्षीण होरही है। मुझको अपना कल्याण इसीमें देख पड़ता है कि मैं संग्राम छोड़ कर वन को चला जाऊं"। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को धैर्य बंधाया और कहा कि अर्जुन के हाथ से पितामह का वध अवश्य होगा। फिर युधिष्ठिर ने कहा "पितामह यद्यपि दुर्योधन की ओर से लड़ रहे हैं तथापि उन्होंने हमारा पक्ष सत्य समझ कर हमसे यह प्रतिज्ञा की थी कि वे हृदय के अन्तस्तल से हमारी विजय चाहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर हमको उसकी प्राप्ति का प्रकार बतलायेंगे। इसलिये हमको उनके पास चल कर उनसे

ही उनके मारने का उपाय पूछना चाहिए।" तदनुसार श्रीकृष्ण सहित पाँचों पांडव दबे पांव पितामह के शिविर में पहुंचे। वे उनको प्रणाम करके और उनका आशीर्वाद लेकर बैठ गए और अपना अभिप्राय उनसे निवेदन किया। भीष्म पितामह बोले-"वत्स, जब मैं शस्त्र रहित होऊं तभी कोई मुझको मार सकता है और जिसने शस्त्र रख दिये हों, नीचे गिर गया हो डरा हुआ हो, जो कहे 'मैं शरणागत हूं। स्त्री हो या जिसमें स्त्रियों के से गुण हों, जिसके एक ही पुत्र हो और जो अज्ञानी हो ऐसे पुरुषों से मैं युद्ध नहीं करता, तुम्हारी सेना में द्रुपद का पुत्र शिखण्डी स्त्रैण है—स्त्रियों के स्वभाव का है—यदि वह मेरे सामने युद्धार्थ उपस्थित होगा तो मैं शस्त्र रख दूंगा और उस पर प्रहार नहीं करूंगा। उसकी ओट में होकर अर्जुन अपने बाण से मुझको मार सकेगा।" धन्य, सत्य प्रतिज्ञ महा-पराक्रमी भीष्म, धन्य, यह आपके ही योग्य था कि आप शरीर और बुद्धि के कर्तव्य को साथ साथ पालन कर सकते थे। शरीर से अन्त समय तक अपने अन्नदाता की सेवा करते रहे तो बुद्धि से सत्य का पक्ष क्षण भर के लिये न त्यागा और अपने मरने तक का उपाय स्वयं अपने मुख से अपने सत्यावलम्बी प्रतिपक्षी को बतला दिया। धन्य है भारतवसुन्धरा जिसके गर्भ से आप ही अपनी उपमा आपका प्रादुर्भाव हुआ था। आप ही के पुण्यप्रताप से आज भी दीन हीन भारतवासियों में स्वाभिमान का लेश शेष है और उनमें धर्म का अंकुर विद्यमान है। आपके ही आदर्श को सामने रख कर वे अपने विगत गौरव को प्राप्त कर सकते हैं।

अगले दिन प्रातः महाभारत का दसवां दिन आन उपस्थित हुआ; पाण्डवों ने भीष्म जी के बतलाए उपायानुसार शिखण्डी

को आगे कर के उस के पीछे अर्जुन को बिठला कर उन से युद्ध प्रारम्भ किया। दोनों ओर से सहस्रों वीर रणाङ्गण में धराशायी होने लगे। भीष्म पितामह भी अपने धनुष की टंकार से आकाश को गुञ्जाते हुए अविच्छिन्न बाण वर्षा कर रहे थे परन्तु स्त्रैण शिखण्डी के सामने आते ही उन्होंने शस्त्र रख दिए। आज दुर्योधन के प्रति की हुई उन की दश सहस्र पाण्डव सेना के संहार की प्रतिज्ञा भी पूरी हो चुकी थी और वे इस हत्याकाण्ड से विरत होना चाहते थे। सन्ध्या का समय निकट था। सूर्य भी शोक सन्तप्त सा होकर अस्त होना चाहता था। अर्जुन ने शिखण्डी की आड़ से पितामह पर बाण बरसाते हुए उनके शरीर को चारों ओर से बाणों से बेध दिया। उन का कवच टुकड़े टुकड़े होगया। भीष्म जी कह रहे थे।

अर्जुनस्य त्विमे बाणा, नेमे बाणा शिखण्डिनः।
कृन्तन्ति मम गात्राणि माघमासे गवा इव॥

अर्थ—ये बाण अर्जुन के हैं शिखण्डी के बाण नहीं है जो केंकड़ी के बच्चों के समान मेरे शरीर को काटते हैं (लोक प्रसिद्ध ही है कि केंकड़ी के बच्चे अपनी माता के उदर को काट कर उस के गर्भ से निकलते हैं)।

पर तो भी वे स्त्रैण शिखण्डी के सामने अस्त्र न उठाने के अपने नियम पर अटल थे, अन्त में रथ के टुकड़े २ हो गए और महात्मा भीष्म रथ पर से पृथिवी पर गिरने लगे परन्तु रोम रोम में धँसे हुए शरों ने उनको बीच में ही रोक लिया वे पृथिवी तक पहुंचने नहीं पाए और अपने आप बनी हुई शरशय्या पर सच्चे वीर के समान सो गए।

उनके गिरते ही चारों ओर हा हा कार मच गया। संग्राम बन्द होगया। कौरव और पाण्डव सभी कवच उतार कर और शस्त्र पृथक् रख कर महात्मा भीष्म के दर्शन करने के लिए भागे। उन के चारों ओर अश्रु पूर्ण नेत्र कौरव और पाण्डव उपस्थित हैं। भीष्म जी का शिर नीचे लटका हुआ है, उन को तकिये की आवश्यकता है, कौरव कोमल तकिये ले कर उन के सिर के नीचे रखने के लिए दौड़े परन्तु भीष्म जी ने यह कह कर उन का तिरस्कार किया कि ये तकिये शरशय्या पर शोभा नहीं देते और अर्जुन को आज्ञा दी कि तुम मेरे योग्य तकिया उपस्थित करो। अर्जुन ने आँखों से आँसू बहाते हुए, जो आज्ञा कह कर और पितामह का आशय समझ कर, अपने गाण्डीव धनुष से ३ बाण उन के सिर के नीचे बेध दिये, जिस से उन का सिर सीधा हो गया। पितामह अर्जुन की क्षिप्रकारिता से बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करने लगे। इसी प्रकार भीष्म जी सूर्य के उत्तरायण होने तक शरशय्यापर विश्राम करते रहे क्यों कि योगी और ज्ञानियों में दक्षिणायन में प्राण त्याग गर्हित समझा जाता है। उस शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह ने कुछ भी वेदना अनुभव नहीं की। उन का अध्यात्मज्ञान इतना प्रबल था कि शरीर में उन का अध्यास कुछ भी न था। क्षणभंगुर पाञ्च-भौतिक देह में उन की सर्वथा अनास्था थी। इसी अवस्था में पड़े हुए वह दुर्योधन और कर्ण को अपने पतन पर ही संग्राम से विरत होजाने की सम्मति देते रहे परन्तु उन की विपरीत बुद्धि एक न मानी और अठारह दिन तक बराबर युद्ध होता रहा। अन्त में कौरव कुल का सर्वनाश हो गया। युधिष्ठिर की जय हुई परन्तु पुत्रों और बन्धु बान्धवों के वध से शोकातुर हो कर वे शरशय्या पर शयन करते हुए पितामह के

पास धर्मोपदेश ग्रहणार्थ चारों भ्राताओं और श्री कृष्णसहित पुनः पधारे। धर्मतत्त्वज्ञ भीष्मपितामह ने उन को जो विस्तृत उपदेश दिया वह महाभारत के शान्तिपर्व में निबद्ध है और सच पूछिए तो श्री मद्भगवद्गीता को छोड़ कर महाभारत का यह भाग सर्वश्रेष्ठ है और प्रत्येक धर्मजिज्ञासु पुरुष के पढ़ने और मनन करने योग्य है।

इस क्षुद्र निबन्ध का आयतन उस के उत्तमोत्तम अवतरणों को भी यहाँ उद्धृत करने की आज्ञा नहीं देता। तथापि इस समय के इन्द्रियाराम और कायर पुरुषों के लिए उस के कुछ पद्य दिए बिना नहीं रहा जाता। वे पद्य ये हैं—

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति।
क्षत्रिया नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥
न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
शौण्डीराणामशौण्डीर्यमधर्म्यं कृपणं च तत्॥

शा०, राज० ध० ९७ अ०। २३। २४। २५ श्लोक॥

अर्थ—क्षत्रिय के लिए शय्या पर पड़कर मरना अधर्म है। जो क्षत्रिय कफ और मूत्र त्यागता हुआ और दीनतापूर्वक रोता हुआ घाव से रहित शरीर से मरता है उसकी ज्ञानी प्रशंसा नहीं करते। घर में मरना क्षत्रियों के लिए प्रशस्य नहीं है, यह स्वाभिमानियों के स्वाभिमान का नाशक तथा अधर्म और दीनता का सूचक है।

भीष्मपितामह के उपदेश में राजा प्रजादि सब के धर्मों का विस्तृत वर्णन है। उस का संक्षेप करना तो असंभव प्राय है परन्तु उस का कुछ सार निम्नलिखित है-

"केवल मारने वा न मारने में पाप वा पुण्य नहीं है। धर्म की और देश की रक्षा के लिए अधर्मी शत्रुओं का नाश करना सदा धर्म है। समय पर मरने से मुख मोड़ना महा-पाप है। धर्म ही एक मुख्य पदार्थ है। जीना और मरना सदा ही लगा रहता है एक शरीर को छोड़ कर मनुष्य को दूसरे शरीर में जाना है इसकारण शरीर के मोह में पड़ कर धर्म का त्याग करना केवल निर्बुद्धि और मूर्खता है॥"

राजर्षि भीष्मपितामह का चारु चरित्र स्वार्थ त्याग, पितृ-भक्ति, ब्रह्मचर्य, तितिक्षा, सहिष्णुता, धीरता, तत्वज्ञता, सत्य-प्रियता और निष्कामता का उत्कृष्ट उदाहरण है और मनुष्य को यह बतलाता है कि उसको अपने धर्म का किस प्रकार निष्कामभाव से पालन करना चाहिये। वह भारतवासियों को विशेषतः यह शिक्षा देता है कि स्वार्थ परायणता, कायरता तथा इन्द्रियारामता को त्याग कर निर्भयता से अपने धर्म और देश की रक्षा में सदैव तत्पर रहना चाहिये।

पद्धति।

भीष्माष्टमी का गृह्य तथा सामाजिक कृत्य भी अन्य महा-पुरुषों के स्मारक दिवसों के समान श्रीराम जयन्ती में लिखित विवरण के अनुसार ही है। उसमें इतनी अधिकता और हो सकती है कि इस दिन महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लिखित श्री भीष्मपितामह के उपदेशों के उत्तमोत्तम विशेष स्थलों का पारायण और प्रवचन किया जाय।

—०—

गुरुदत्त दिन

चैत्रबदि १४।

(शार्दूल विक्रीड़ित)

विद्यार्थी गुरुदत्त का सुयश है, फैला सभी देश में।
वाग्देवी करती निवास जिसके, थी श्रीमुखद्वार में।
स्वर्गारोहण दृश्य देख करके, स्वामी दयानन्द का।
आत्मा का सुप्रकाश शुद्ध जिसके, था जग गया चित्त में॥

(पं० सिद्धगोपाल कविरत्न)

प्रत्येक धर्म को श्रद्धा और विश्वास का ही एक मात्र अव-लम्ब होता है, श्रद्धा और विश्वास के बिना संसार में कोई धर्म जीवित नहीं रह सकता। श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है। 'श्रद्धया सत्यमाप्यते" यह श्रुति भी यही प्रतिपादन करती है। किन्तु श्रद्धा और विश्वास यदि गहन गवेषणा और विपुल विद्या के आधार पर स्थापित हों तो वे सोने में सुगन्ध की उक्ति को चरितार्थ करते हुए निरन्तर निश्चल और पूरे अटल होते हैं। आज का पवित्र पर्व जिस उच्च आत्मा की सम्माननीय स्मृति में मनाया जा रहा है वह वर विद्या की निधि और श्रद्धा तथा विश्वास की मूर्ति थी। आर्य समाज के भूषण पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी का उज्ज्वल जीवन प्रत्येक विद्या प्रेमी और धर्मानुरागी पुरुष के मनन के लिए अमूल्य सामग्री प्रदान करता है। वे पुरुष रत्न धन्य हैं जो अपने अनुकरणीय कार्यों से किसी देशके इतिहास निर्माण में भाग लेते हैं, अपने

सुकृत्यों को भावी सन्ततियों के लिए पथ प्रदर्शक प्रदीप के रूप में छोड़ जाते हैं और धर्म के पुनरुद्धार के लिये अपने प्राण तक समर्पण कर देते हैं। पं० गुरुदत्त जी का पवित्र चरित्र इन सब बातों का उत्कृष्ट उदाहरण है।

धन समृद्धि की दृष्टि से उन्होंने एक साधारण कुल में जन्म ग्रहण किया था। पं० गुरुदत्त जी के पिता ला० रामकृष्ण जी फ़ारसी भाषा के साहित्य के पूर्ण विद्वान् थे और वे उन अध्यापकों में से थे जिन्होंने प्रारम्भावस्था में पञ्जाब के शिक्षा-विभाग की शोभावृद्धि की थी। ला० रामकृष्ण जी की आकृति मध्यम और ललाट विशाल था। उनका शरीर दृढ और सुसंगठित था। पं० गुरुदत्त जी अपने पिता की प्रत्यक्ष प्रतिमूर्त्ति थे। पंडित जी की मान्या माता उन भारतीय माताओं का दिव्य दिग्दर्शन थी जो स्वल्प आय में अपने परिवार का पालन पोषण भले प्रकार कर लेती हैं। वह सती साध्वी प्रनन्धदत्ता देवी थी। पं० जी के पिता का अन्तिम वेतन ६०) मासिक था किन्तु इस परिमित धन से ही उन की माता अपने बालकों के भोजनाच्छादन का यथेष्ट निर्वाह कर लेती थी। यद्यपि वह अन्य हिन्दु कुटुम्बिनियों के समान अक्षरों के ज्ञान से शून्य थी परन्तु कर्तव्य परायणता, सुत-वत्सलता और धीरता उस के विशेष गुण थे। वह आपत्ति में भी कभी विचलित न होकर उस को वीरता पूर्वक सहन करती थी। पं० गुरुदत्त जी के पिता लाला राम कृष्ण जी बड़े कुशाग्रबुद्धि थे। अपने देहावसान से एक वर्ष पूर्व उन्होंने अपने पुत्र गुरुदत्त की प्रार्थना पर संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया और उस में छः मास में ही ऐसी उन्नति करली कि संस्कृत में अपने पुत्रको एक पत्र लिखा जो शुद्ध प्राय था। वे स्वल्पभाषी और एकान्तसेवी थे। ब्रह्मज्ञान की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति

थी। पं० गुरुदत्त को अपने पिता के सब गुण बपौती में मिले थे। उन के पिता का जन्म संवत् १८७९ विक्रमी में हुआ था और पं० गुरुदत्त उन के यहाँ १६ वैशाख संवत् १९२१ वि० (२६ अप्रेल सन् १८६४ ई०) को उत्पन्न हुए थे। वे अपने माता पिता के एकही पुत्र थे। उन के जन्म के समय उन की माता की आयु २९ वर्ष और पिता की ४२ वर्ष की थी। वे अपने माता पिता की कनिष्ठ सन्तति थे और 'कनिष्ठ सब से तीक्ष्ण बुद्धि होता है' यह लोकोक्ति उन पर पूरी घटती थी। एक अमेरिकन दार्शनिक के मतानुसार, जिस का कि पं० गुरुदत्त जी अपनी आयु के अन्तिम भाग में बहुत ही आदर करते थे, वे अपने जन्म के समय के विचार से बड़े ही सौभाग्यशाली थे। उक्त अमेरिकन दार्शनिककी उक्ति है कि जो मनुष्य अपनी माता की ३० और ४५ वर्ष के मध्य की आयु में तथा पिता के ३५ और ५० वर्ष के बीच में जन्मे वह बड़ा भाग्यवान होता है। जो बालक अपने पिता की उन्नत शक्तियों की अवस्था में उत्पन्न होते हैं, उन्हीं की शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ उत्तम होती हैं। उक्त दार्शनिक ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में बहुत से पुरुषरत्नों के उदाहरण दिए हैं। भारतवर्षीय विवाहार्थियों के लिए यह सिद्धान्त सर्वथा विचारणीय और अनुकरणीय है।

पंडित गुरुदत्त जी के पिता अपनी आयु के दीर्घकाल तक पुत्ररत्न के लाभ से वञ्चित रह कर अपने योगविद्या सम्पन्न ज्ञानी गुरु की सेवा में पुत्रप्राप्ति की प्रार्थना ले कर उपस्थित हुए उन्होंने यह उत्तर दिया कि "ईश्वर की कृपासे कभी किसी को निराश नहीं होना चाहिए, सम्भव है कि परम पिता तुम

पर दया करे।" इस के कुछ ही समय पश्चात् पं० गुरुदत्त का जन्म हुआ और वह गुरुवर के आशीर्वाद का फल माना गया।

पंडित जी का जन्म नाम मूला रक्खा गया, जो मूल का अपभ्रंश है और जिसका अर्थ मूल धन भी है। बालक मूला को जब उस के पिता ने अपने गुरु के चरणों में उपस्थित किया, तब उन्होंने उस को 'वैरागी' कहकर सम्बोधन किया और उन के माता पिता को उनका यही नाम अच्छा लगा और वे उनको 'वैरागी' कह कर पुकारने लगे। १२ वर्षकी अवस्था में पं० गुरुदत्त के माता पिता उनको हरिद्वार लेगये, वहाँ गोस्वामी राधे ने उन के पिता के मुख से उनकी गुरु के वर से उत्पत्ति का वृत्तान्त सुन कर उनका नाम वैरागी के स्थान में 'गुरानदत्ता' रख दिया और यही गुरानदत्ता पीछे से शुद्ध रूप में गुरुदत्त प्रसिद्ध हुआ।

यतः पण्डित गुरुदत्त के पिता योग्य शिक्षक थे और अपने पितृ कर्तव्य से पूर्ण परिचित थे, अतः उन्होंने पं० गुरुदत्त को आदि से ही उत्तम शिक्षा दी थी। ५ बरस को अवस्था में ही उन्होंने उनको फ़ारसी वर्णमाला का अभ्यास कराया था। ताड़ना के वे विरोधी थे, और बालक की सहज स्वतन्त्रता में कभी बाधक नहीं होते थे। पण्डित जी को गणित की शिक्षा भारत की पुरानी रीति पर दीगई थी। पण्डित जी की मेधा ऐसी प्रबल थी कि वे लाखों की राशियों का गुणन और भाग मौखिक ही कर लेते थे। स्लेट पेंसिल या लेखनी मसिपात्र की उनको आवश्यकता न होती थी। वे कहा करते थे कि आरम्भ

में उनके पिता ने उनको अंगुलियों पर गिनना सिखलाया, आगे चलकर उन्होंने अंगुलियों से सहायता लेना बंद करदिया और केवल मौखिक गणित ही सिखलाने लगे। शनैः शनैः गणित के सारे नियम लघुतम तथा महत्तम समापवर्त्य तक मौखिक ही सीख गए। बीजगणित और सरल भिन्न के प्रश्नों का भी मौखिक अभ्यास कराया गया। वे रेखा गणित और त्रिकोणमिति के प्रश्नों की क्रिया भी सदा मौखिक ही किया करते थे और कहा करते थे कि "मैंने इन्ट्रेंस क्लास तक कभी स्लेट नहीं मोललो थी। परीक्षा के अवसर के अतिरिक्त प्रश्नों की क्रिया कभी लिख कर नहीं की। हां यदि कोई बहुत लम्बा और उद्वेगजनक प्रश्न होता था तो उसको लिख लिया करता था।" उनके पिता ने उनको स्कूल की प्राइमरी श्रेणियों में इस लिये प्रविष्ट नहीं किया कि वहां के अध्यापक प्रायः अयोग्य होते हैं जो बालकों का उच्चारण बिगाड़ देते हैं और उन को शिक्षा के कुमार्ग पर डाल देते हैं जिस की हानि उनको आयुभर उठानी पड़ती है। उन की शिक्षा के लिये उनके पिता ने वृद्धावस्था में स्वयं अंग्रेज़ी पढ़नी प्रारम्भ की और How to speak English नामक पुस्तक को पढ़कर स्वयं उसको पं० गुरुदत्तको पढ़ाया। झंग स्कूलमें प्रवेश के समय पं० गुरुदत्त को फ़ारसी और उर्दू की अच्छी योग्यता हो चुकी थी, इसलिये उन्होंने वहाँ बहुत शीघ्र उन्नति करली और 'मसनवी मौलाना रूम' और 'दीवान-ए-हाफ़िज़' आदि फ़ारसी के उत्तम काव्यों को शीघ्र समाप्त कर लिया। इन पुस्तकों के प्रायः पद्य इन को कण्ठाग्र थे। झङ्ग स्कूलसे उन्होंने मिडिल की परीक्षा पास करके मुलतान हाइस्कूल में प्रवेश पाया। मुलतान में भी उन की ईश्वर दत्त शक्तियों का प्रकाश होने लगा। वहाँ वे उर्दू के

धाक्यों को तत्काल फ़ारसी में उलथा कर देते थे और रेखा गणित की पहिली पुस्तक के परिणामों की क्रिया एक दिन में समाप्त करली थी। मुल्तान में ही उन्होंने भौतिकी विद्या के आरम्भिक ग्रन्थों को पढ़ा। उनको आदि से ही स्वाध्याय का ऐसा अनुराग था कि उन्होंने मुलतान हाइस्कूल के पुस्तकालय की सब पुस्तकों को एक एक कर के पढ़ डाला। और भी जहाँ २ से उन को उत्तमोत्तम पुस्तकें मिलती थीं उन को प्राप्त कर के वे अवश्य पढ़ते थे। Bible in India को भी उन्होंने वहीं पढ़ा था। अभी उनकी १८ वर्ष की अवस्था पूरी न हुई थी कि वे संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, उरदू और अंग्रेज़ी भाषाओं में पर्याप्त प्रवेश पा चुके थे। फ़ारसी की तो उन को बहुत ही उत्तम योग्यता थी। उस में 'मसनवी मौलाना रूम' और 'दीवान-ए-हाफ़िज़' वे पढ़ चुके थे। संस्कृत में सब से पहिले उन्होंने Dr. Balentine कृत Introduction to Sanskrit grammar पढ़ा था। तत्पश्चात् ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का कोष की सहायता से स्वाध्याय किया। तदनन्तर मुलतान आर्यसमाज से प्रार्थना कर के और पं० अक्षयानन्द जी को मुलतान बुलवाकर उनसे पाणिनिकृत व्याकरण अष्टाध्यायी समाप्त की। वे अरबी व्याकरण भी जानते थे। अंग्रेज़ी में तो एक प्रकार से पारंगत थे, क्यों कि मिल्टन, कूपर और शेक्सपियर के ग्रन्थ पढ़ चुके थे। तर्क और भौतिकी में उन की पर्याप्त गति थी। उन्होंने नवम्बर सन् १८८० ई० में पंजाब यूनिवर्सिटी की इन्ट्रेन्स परीक्षा पाँचवें नम्बर पर पास की।

बाल्यावस्था से ही उन का रहन सहन बहुत सरल और संयत था। मांस और मादक द्रव्योंका वे कभी सेवन नहीं करते

थे। मांस से उन को आदि से ही ऐसी घृणा थी कि एक वार उनको उनके पिताने मांस भक्षण को बहुत प्रेरणा की किंतु वे नम्रतापूर्वक निषेध करके उस पाप में प्रवृत्त न हुए। दुराचारी और कुरुचिपूर्ण पुरुषों और वयस्यों की संगति से भी वे सदा दूर रहते थे। उन को व्यायाम से आदि से ही बहुत अनुराग था और वे अपने स्कूलों के खेलों में सम्मिलित होने से कभी पश्चात्पद न रहते थे। आद्यावस्था में उन का फ़ारसी का एक ग्रंथ 'आईन-ए-मज़हब हनूद' हाथ लग गया और उसमें उन्होंने अनहद शब्द (अनाहतनाद) का वर्णन पाकर प्रणव जाप प्रारम्भ किया और प्राणायाम का अभ्यास करने लगे। उन की माता उन को वसा करने का निषेध भी करती थी किंतु वे अपने अभ्यास में लगे ही रहे।

आगे चल कर भौतिकी विद्या पाठ कर और लुधियाने के प्रसिद्ध स्वतन्त्र विचारक और लेखक मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी के ग्रन्थों को अध्ययन करके उनका विचारप्रवाह निरीश्वर वाद की ओर झुकने लगा। उस समय निरीश्वरवाद की लहर अँग्रेज़ी शिक्षाप्राप्त युवकसमूह में बड़े वेग से चल रही थी। यदि आर्यसमाज की ज्योति का उदय उस समय न होता तो न जाने कितनी आत्माओं को वह सर्वनाश के समुद्र में बहा कर ले जाती। मुलतान में ही भक्त रैमलदास और ला० चेतनानन्द आदि आर्यमहाशय मित्रों के सत्सङ्ग और सत्यार्थ प्रकाश के अध्ययन से उनका ध्यान आर्य समाज की ओर आकर्षित हुआ और २० जून सन् १८८० ई० को उन्होंने मुलतान आर्यसमाज में सदस्यता का प्रार्थनापत्र देकर आर्य समाज की सदस्यता ग्रहण की।

जनवरी सन् १८८१ ई० को पं० गुरुदत्त लाहौर गवर्नमेण्ट कालिज में प्रविष्ट हुए। कालिज में भी वे अपनी प्रतिभाशालिता के कारण आदर्श विद्यार्थी गिने जाते थे और अपने प्रोफ़ेसरों और सहाध्यायियों के प्रशंसापात्र थे। जब वे क्रम-रहित सैंकड़ों संज्ञाओं को एकबार सुनकर तत्काल दुहरा कर सुना देते थे तो श्रोता उन की विलक्षण धारणा शक्ति का चमत्कार देख कर आश्चर्य्य चकित रह जाते थे। एक वार पंजाब यूनिवर्सिटी के संस्थापक और प्रथम रजिस्ट्रार डाक्टर लिटनर महोदय की प्रार्थना पर उन्होंने गवर्नमेंट कालिज के देखने के लिए आए हुए एक सम्भ्रान्त सज्जन के सामने अपनी इस असामान्य स्मरणशक्ति का परिचय दिया था। उन के सहाध्यायियों में श्रीमद्दयानन्द ऐङ्गलो वैदिक कालिज के सर्वस्व महात्मा हंसराज जी, प्रसिद्ध देश भक्त पंजाबकेसरी वाग्मिवर ला० लाजपत राय जी, दीवान नरेन्द्रनाथ एम० ए० कमिश्नर, ला० शिवनाथ B.A. असिस्टेंट इञ्जीनियर, ला० भगतराम B.A. मुंसिफ, ला० चेतनानन्द B.A. वकील, ला० रुचिराम M.A. साइन्स प्रोफेसर गवर्नमेंट कालिज लाहौर से गण्य मान्य महोदय सम्मिलित थे। कालिज के जीवन में उनका अपने सहाध्यायियों से ईश्वर के अस्तित्व, ईश्वरीय ज्ञान और आवागमन आदि गम्भीर विषयों पर संवाद होता रहता था और उन में वे आर्यसमाज के सदस्य होते हुए भी सदैव प्रतिवादी का पक्ष लिया करते थे और अपनी प्रबल तर्कविद्या से अपने प्रतिपक्षी को निरुत्तर कर देते थे। उनके इस कार्यसे और ब्रेडला, डार्विन, जोनस्टुअर्ड्स मिल और बेन आदि पाश्चात्य निरीश्वर वादियों के ग्रन्थों के अहर्निश के अध्ययन से लोग उनको अब भी नास्तिक ही समझते थे। यद्यपि आर्यसमाज की सद-

स्यता ग्रहण कर के सृष्टि के कर्ता परमपिता पर उनका विश्वास होने लगा था तथापि वस्तुतः उनको तब तक संदेह-वाद के पिशाच ने जकड़े रक्खा जबतक कि ईश्वर के अटल विश्वासी महर्षि दयानन्द की परमपद प्राप्ति के अद्वितीय दृश्य ने, जब कि वह परमपिता का प्यारा गायत्रीमंत्र का उच्चारण करता हुआ असीम शान्ति के साथ उस परम प्रभु की गोद में जारहा था और उस की मंगल मूल आज्ञा के सामने अपना मस्तक आनन्दपूर्वक नतकर रहा था, उन को उस से छुटकारा नहीं दिलाया।

सन् १८८३ ई० में पंडित गुरुदत्त ने इन्टरमीडिएट् (एफ० ए०) परीक्षा पंजाब भर में प्रथम रह कर उत्तीर्ण की और सन् १८८५ ई० के आरम्भ में वे B. A. में भी पञ्जाब में सर्व-प्रथम उत्तीर्ण हुए। मार्च सन् १८८६ ई० में उन्होंने भौतिकी विद्या में पंजाब यूनिवर्सिटी से M. A. (आचार्य) की पदवी प्राप्त की और उस में भी सारे प्रान्त में प्रथमस्थान लिया।

वे महाविद्यालय के अपने विद्यार्थिजीवन से ही धर्मो-पदेश आदि सामाजिक सेवाओं में प्रवृत्त हो गए थे। कालिज में ही उन्होंने Free debating club के नाम से एक वाग्वर्द्धिनी सभा स्थापित की थी और उसके मन्त्री वे स्वयं थे। इस सभा ने धार्मिक और सामाजिक विषयों की ओर युवाओं के विचार फेरने में बड़ा कार्य किया और "वादे वादे जायते तत्त्व-बोधः" की उक्ति के अनुसार तर्क की कसौटी पर कसे जाकर कृतविद्य पुरुषों के विचार वैदिक धर्म के सिद्धान्तों पर दृढ़ और निश्चल हो गए। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है अक्टूबर सन् १८८३ ई० में आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के दारुणरोग के भयंकर समाचार भारत

भर की आर्य समाजों में पहुंचे। लाहौर आर्य समाज की अन्तरंग सभा ने अपने दो प्रतिष्ठित सदस्य पं० गुरुदत्त और ला० जीवनराम समाज के उपप्रधान को महर्षि की सेवा और परिचर्या के लिए निर्वाचित किया। पंडित गुरुदत्त उस समय कालिज की थर्ड इयर (तृतीय श्रेणी) में शिक्षा पाते थे। उन का इस गम्भीर और प्रतिष्ठापूर्ण महाकार्य के लिए निर्वाचन इस बात का साक्षी है कि उसी समय से लाहौर आर्यसमाज के अधिकारियों की दृष्टिमें पं०गुरुदत्तजी का महामान् था और उन को उनकी योग्यता और बुद्धिमत्ता पर बड़ा विश्वास और भरोसा था। वे लोग समाज सम्बन्धी महत्व के विषयों में पंडित जी की मन्त्रणा को प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे। पंडित जी ने अपने कर्तव्य को ही अतिपरिश्रम से पूर्ण नहीं किया प्रत्युत जिस लगन और प्रेम से उन्होंने महर्षि की सेवा उन के इस असार संसार से बिदा लेने के समय में की और जिस शिष्योचित भक्ति और सावधानता से वे उन की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते रहे उस को सुन कर जनता उन की विनयशीलता और सेवा भाव की शतमुख से प्रशंसा करने लगी और उस से वे प्रत्येक आर्य पुरुष के प्रशंसा पात्र और श्रद्धाभाजन बन गए। महर्षि के विनश्वर शरीर त्याग वा निर्वाण के दर्शन ने पं० गुरुदत्त को वह गुरुदत्त बना दिया, जिस का नाम प्रत्येक आर्य आदर से लेता है। महर्षि का मृत्युञ्जय सायुज्य योरप और अमेरिका की पाश्चात्यविद्या के प्रतिनिधि गुरुदत्त का संशय निवृत्त करके उसको पूर्ण वैदिक धर्मावलंबी आर्य बनाने में सफल हुआ। उस ने प्रत्यक्ष देखा कि किस प्रकार एक सच्चा आस्तिक और पूर्ण योगी मृत्यु के भय से रहित होकर ईश्वरोपासना के परम बल से क्लेश की

जड़ को काटता हुआ आनन्दपूर्वक इस असार संसार से बिदा होता है। इस विलक्षण वियोग वा संयोग ने पण्डित गुरुदत्त को ईश्वर के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण दे दिया। इस घटना ने उस को स्पष्ट दिखला दिया कि योगी ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इस घटना ने उन के मुख से बलात् कहला दिया कि वर्तमान पाश्चात्य पदार्थ विद्या और दर्शन की जहाँ समाप्ति होती है वहाँ वेद विद्या का आरम्भ होता है। उस दिन से कार्य रूप से पाश्चात्य शास्त्रों के पारंगामी पण्डित गुरुदत्त M. A. क्रियात्मक रूप से गुरुदत्त विद्यार्थी बन गए। इस के पश्चात् कभी भो किसी पुरुष ने यह नहीं देखा वा सुना कि पंडित गुरुदत्त ने ईश्वर के अस्तित्व वा वेदों के अपौरुषेयत्व के विरुद्ध कभी भी कोई शब्द कहा हो वा प्रकारान्तर से उस में कुछ सन्देह प्रकट किया हो।

महर्षि दयानन्द के आर्य समाज से असामयिक वियोग के उपरान्त आर्य जनता की वही दशा थी जो किसी घर की उस के सिरधरू मुखिया के उठजाने पर होती है। इस समय आर्यसमाज का प्रत्येक श्रद्धालु व्यक्ति वैदिक धर्म के उद्धार के भार को अपने कन्धों पर अनुभव करता था। पण्डित गुरुदत्त इन्हीं व्यक्तियों में से एक थे। वे महर्षि की परमपद प्राप्ति के पश्चात् आर्य समाज की सेवा में सर्वात्मना तत्पर होगये। इस अवसर पर प्रत्येक आर्य के मनमें यह विचार उठ रहा था कि महर्षिकी स्मारक एक ऐसी संस्था की स्थापना की जाय जिस में वैदिक और लौकिक संस्कृतके साथ साथ पाश्चात्य भाषाओं में सन्निहित विज्ञान का भारत में प्रचार हो। किन्तु इस विचार ने कार्य का रूप तब धारण किया जब पण्डित गुरुदत्त जी और लाला जीवन दास जी अजमेर से लौट कर लाहौर पधारे।

८ नवम्बर सन् १८८३ ई० को लाहौर आर्य समाज मन्दिर में एक सार्वजनिक सभा द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि महर्षि की स्मृति में लाहौर में श्रीमद्दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालिज स्थापित किया जाय। इस सभाके वक्ताओं में पण्डित गुरुदत्त मुख्य थे। उन्होंने परम प्रभावोत्पादक शब्दोंमें महर्षिके परम शान्तिलाभ के वृत्तान्त को सुनाकर दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालिज की आवश्यकता श्रोताओं के सामने रक्खी। इसी समय उक्त कालिज के लिये दान की सूची खोली गई उस में पण्डित गुरुदत्त ने अपनी एक मास की पूरी छात्रवृत्ति के ८५) दान दिए। वह तब से M. A. पास करने तक विद्यार्थिजीवन में और उस के पश्चात् लाहौर गवर्नमेंट कालिज में भौतिकी के प्रोफ़ेस्सर पदपर नियुक्त होने पर भी आजीवन दयानन्द ऐंगलो वैदिक कालिज के लिये दान याचना करते हुए बराबर पर्यटन करते रहे और वैदिक धर्म के सिद्धान्तों पर विद्वत्तापूर्ण वक्तृतायें देते रहे। उन की अपीलों से डी०ए०वी० कालिज के लिए सहस्रों रुपये एकत्रित हुवे और उन के गवेषणागर्भित और वैदुष्ययुक्त व्याख्यानों की सर्वत्र धूम मच गई। M. A. की पदवी प्राप्ति पर उन को एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नरी जैसे उच्च पद मिलते थे किन्तु उन्होंने उन सब का तिरस्कार करके अर्थ कृच्छ्रता पूर्ण ब्राह्मण वृत्ति (उपाध्याय का व्यवसाय) स्वीकार की और एक पूर्ण त्यागी तथा सच्चे ब्राह्मण के आदर्श का पालन करते हुए विद्या और धर्म की सेवा में अपना जीवन व्यतीत किया। वे प्रतिदिन अपनी डायरी (दैनिक वृत्तान्त पुस्तक) लिखा करते थे। उसकी बहुत सी पंक्तियों से उनकी विचार परम्परा और अभिलाषाओं का पूर्ण परिचय मिलता है। खेद है कि इस क्षुद्र निबन्ध में

उन शिक्षा प्रद पंक्तियों के उद्धरण के लिये स्थान नहीं है तथापि दो चार अवतरण दिये बिना नहीं रहा जाता। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"ईश्वर का भक्त धन की क्या परवाह कर सकता है? क्या ही अच्छा हो कि भारत भक्तों का देश बन जाय।"

"हे ईश्वर तू मुझे वह मार्ग बता जिससे मैं अपनी आत्मा के और संसार के लिये उपयोगी बन सकूं।" ११ मई सन् १८८८ ईसवी।

"व्यर्थ बकवाद से कुछ नहीं मिलता है तुरन्त योगाभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए।' २१ जून सन् १८८६ ईसवी।

"मुझ को योगी बनना चाहिए और अपना जीवन उपदेश देने में व्यतीत करना चाहिए।" १६ जनवरी सन् १८८७ ई०।

"प्रातः उठा और १००० जाप गायत्री के किये।" १० फ़रवरी सन् १८८७ ईसवी।

पं० गुरुदत्त जी जहाँ विद्या के जङ्गम कोष, सद्गुणों की राशि, श्रद्धा और सफलता की प्रतिमूर्ति थे वहाँ उनमें अनियमवर्तिता की एक बड़ी त्रुटि वर्तमान थी। "उनका खाना, पीना, सोना, जागना, पढ़ना, लिखना, खेलना, कूदना तथा व्यायाम आदि सब बातें नियमरहित थीं। अनियमवर्तिता उन के जीवन का अंग थीं और यही उन की ऐसी शीघ्र मृत्यु का कारण हुई। उनका स्वभाव था कि यदि सोना प्रारम्भ किया तो पूरे २४ घण्टे तक पड़े सोए रहे और यदि पढ़ना प्रारम्भ किया तो रातों पढ़ते ही रहे और तनिक आँख नहीं झपकी। उनकी डायरियों के लेखों में उनकी इन अनियमवर्तिताओं के उपालम्भ विद्यमान हैं।" भोजन उनका अतीव सरल था, लाल मिरच वा मांस वे कभी न खाते थे, जो शाक उन के सामने परसे जाते थे वे उनसबको एक एक करके खालेते थे।

वस्त्रों में उनको बनाव चुनाव का कुछ ध्यान न होता था और न राष्ट्रीयता का ही कुछ विचार था। वे वस्त्रों का उद्देश्य केवल शरीर की रक्षा समझते थे।

दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज के सञ्चालकों से उनका दो विषयों में मतभेद होगया था। उनमें से प्रथम विषय यह था कि पंडित गुरुदत्त जी का यह अनुरोध था कि दयानंद एंगलो वदिक कालिज की स्थापना मुख्यतः लौकिक और वैदिक संस्कृत के प्रचार के लिए हुई है। यूनिवर्सिटी के पदवीधर वा गवर्नमेंट के सेवक उत्पन्न करना उसका उद्देश्य नहीं है। दूसरे पक्ष का यह मत था कि यूनिवर्सिटी शिक्षा के विना हम संस्कृतशिक्षा को सर्वसाधारण में सर्वप्रिय नहीं बना सकते। अन्त को उनके स्वर्गवास के पश्चात् यही दोनों मत आर्यसमाज में वर्तमान गुरुकुल पार्टी और कालिजपार्टी के निर्माण के कारण हुए। पंडित जी का कुछ आर्य सामाजिक पुरुषों से दूसरा मतभेद मांसभक्षण विषयक था। पंडित जी मांस भक्षण को वेद विरुद्ध और महापाप मानते थे। किंतु उनके अल्प संख्यक प्रतिपक्षी मांसभक्षण को उत्तम कार्य न मानते हुए भी उसको पाप नहीं समझते थे, और वेद को उसके विधि वा निषेध में मौन बतलाते थे। मांसभक्षण के इसी विवाद से आर्यसमाज में फूट पड़ कर दो दल होगए और वे एक दूसरे को महात्मा पार्टी और कल्चर्ड पार्टी के व्यङ्ग पूर्ण नामों से पुकारते थे। संतोष की बात है कि अब आर्य्यसमाज में मांस भक्षण को पाप न बताने वाला कोई दल नहीं रह गया है, यह दूसरी बात है कि आर्य्य सामाजिक पुरुष गुप्त रीति से मांस खाते हैं।

पंडित गुरु दत्त जी अपने सुलेखों और व्याख्यानों द्वारा वैदिक धर्म की सेवा में अहर्निश इतने तन्मय रहते थे—जहाँ वे आर्य समाजों के वार्षिकोत्सवों पर पहुंच कर अभिनव अन्वेषणों से युक्त उत्तम व्याख्यान देते रहते थे वहाँ वे उपनिषदों की व्याख्या, वैदिक शब्दोंकी यौगिकता का प्रतिपादन और 'वैदिक मैगज़ीन' मासिक पत्र द्वारा वेदों पर पाश्चात्य पंडितों के आक्षेपों के परिहार पर निबन्ध लिखने के लिए सतत स्वाध्याय करते रहते थे—कि उन का भौतिक कलेवर उस गुरु परिश्रम को सहन न कर सका और वे राजयक्ष्मा रोग में ग्रस्त होगए। इस रोग के आखेट युवकों के शरीर बहुत ही कम बचते हैं और अन्त में २६ वर्ष के युवा पंडित गुरुदत्त जी ने इसी दारुण रोग से पीडित हो कर और आर्य-जनता को शोकसागर में निमग्न करके इस असार संसार को त्याग दिया, और चैत्र बदि १४ संवत् १८४६ विक्रमी, तदनुसार १९ मार्च सन् १८९० ई० को, ७ बजे प्रातः उस परोपकारी आत्मा ने परमपद प्राप्त किया। मुहूर्तमात्र में यह अशुभ समाचार सारे लाहौर शहर में फैलगया और ९ बजे से पूर्व सैकड़ों मनुष्यों का समूह उन के गृह के आगे एकत्रित हो गया। साढ़े दस बजे उन की रथी उठाई गई। मार्ग में उस पर खिड़कियों से फूलों की वर्षा होती थी और उस के साथ जन-समूह बराबर बढ़ता जाता था। श्मशान भूमि में पहुंच कर वेदि रच कर वैदिकरीत्यनुसार पुष्कल सामग्री से उन के नश्वर शरीर का दाह दिया गया ? परन्तु उन का यशः शरीर सदा के लिए अजर और अमर है। स्थान स्थान पर उन के शोक प्रदर्शनार्थ सभाएं की गई। प्रत्येक मत और भाषा के समाचार पत्रों ने उन के शोक में अपने कालम काले किए और उन के गुणानुवाद में लम्बे २ लेख लिखे।

पं० गुरुदत्त के आर्यजीवन में विचित्र आकर्षण था। लाहौर के सब कालेजों के सर्व हिन्दू छात्र उनकी विद्या पर मुग्ध थे। वे उनको उनके साधु, तपस्वी और सेवा परायण जीवन के कारण देवता मानते थे। पंजाब भर के महा-विद्वान् अपने धर्म सम्बन्धी संशय मिटाने के लिये श्रीनगर, पेशावर, रावलपिंडी, मुलतान, अमृतसर, जालन्धर आदि स्थानों से नित्य प्रति उनके पास आते रहते थे। संस्कृतज्ञ साधु महात्मा चाहे वे किसी मत के क्यों न हों, लाहौर में आकर पं० गुरुदत्त से मिले बिना नहीं जाते थे। उनका घर एक धर्मोपदेशक (मिश्नरी) का सदन बन रहा था। पं० गुरुदत्त जी प्रातःकाल दस उपनिषदों का गुटका हाथ में लेकर घर से दो वा तीन मील दूर जङ्गल में चले जाते थे। वहाँ एक घण्टा तक तो योगाभ्यास (प्राणायाम) करते थे और आधा घण्टा उपनिषद् की एक श्रुति पर मनन करके घर को लौट आते थे। आन कर योगाभ्यास वाली कोठरी में चले जाते और एक वा दो आसनों का १५ मिनट तक अभ्यास करके हवन यज्ञ करते थे, फिर गौ का गरम दुग्ध पीते थे। तदनन्तर आध घण्टे तक योगदर्शन के सूत्रों का मनन करते थे। उन्होंने योगदर्शन का ऐसा उत्तम मनन किया था कि इस समय भारतवर्ष में उनके समान उसके ज्ञाता विरले ही निकलेंगे। सरदार उमरावसिंह मजीठिया ने उनसे योगदर्शन पर कुछ नोट लिये थे, और वे नोट एक बार सरदार जी ने श्रीमान् रायबहादुर ठाकुरदत्तजी धावन को सुनाए थे। उनको सुन कर रायसाहब विस्मित हो उठे थे।

पं० गुरुदत्त जी की एक अलमारी में सब से ऊपर के खाने में चारों वेदों के पुस्तक रहते थे, फिर नीचे के सब खानों में

महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य। दूसरी अलमारी में सब से ऊपर के ख़ाने में सत्यार्थप्रकाश और निचले शेष ख़ानों में एण्ड्रू जैकसन डेविस अमेरिका के योगी के अंग्रेजी ग्रन्थ। शेष अलमारियों में आर्ष ग्रन्थ रक्खे जाते थे।

एक बार उन्होंने उर्दू और फ़ारसी के सब ग्रन्थ अपने घर से निकाल दूसरों को देदिये, केवल एक दीवाने हाफ़िज़ रहने दिया। विद्यार्थियों ने पूछा कि महात्मा जी इसमें क्या विशेष गुण था जो आपने रहने दिया—उत्तर में कहा कि इसमें एक शेर (पद्य) ऐसा है मानों वह योगदर्शन के आधे सूत्र का सार है इस लिये इस ग्रन्थ को मैं किसी को देना नहीं चाहता। वह शेर यह था कि—

आसाइशे दो गेती, तफ़्सीरे ईंदो हर्फ़स्त्।
बा दोस्ताँ मुरव्वत, बा दुश्मनाँ मदारा॥

योग दर्शन में जो 'मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा' का वर्णन है उस में मैत्री और उपेक्षा का वर्णन फ़ारसी के उक्त उत्तम कवि वचन में है। यह सदैव कहते थे कि आर्य समाज मंदिर को एक मात्र क्लर्कों का मन्दिर व मुंशीख़ाना न बनादो नहीं तो आर्य जीवन संपादन का अनुराग जाता रहेगा। आज उनकी यह बात ठीक मालूम होने लगी है। इस समय समाजों में अधिकार तृष्णाका इतना मोह बढ़ गया है कि अब कई लोग उस आर्य जीवन वाले मनुष्य को, जिसका नाम 'रजिस्टर' में न हो, वा अधिकारी न हो, वैदिकधर्मी भी मानने से डरते हैं। आर्य जीवन वा सदाचार की जगह केवल मासिक चन्दे ले लेती है।

चन्दे की व्यर्थ चिन्ता समाज को खागई। इस समय प्रायः समाज का आदर्श चंदा बटोरना और पत्र व्यवहार में दक्ष होना है। शास्त्रोंका स्वाध्याय करने वाले इस समय 'खुशकी' समझे जाते हैं। प्रेम की जगह पॉलिसी लेरही है।

पण्डित गुरुदत्त जी के दो महान् व्रत थे जिन के कारण उस समय पंजाब भर में प्रेम उत्साह और सेवा का राज्य आर्य समाज में देख पड़ता था।

(१) जो भी पुरुष चाहे किसी आयु का क्यों न हो वह उससे संस्कृतभाषा सीखने की दृढ़ प्रतिज्ञा लेते थे। वह यह कहते थे कि चाहे तुम साठ वर्ष के वृद्ध हो, पर हमारे पास कभी मत आओ यदि तुम संस्कृत पढ़ने के लिये जीवन के शेष दिन नहीं दे सकते। तुम यदि एक वर्ष में मर गये तो दूसरे जन्म में संस्कृत पढ़ने के संस्कार लेकर तो जाओगे। फिर अगले जन्म में पूरे पण्डित हो सकोगे। अफ़लातून ने नियम कर रक्खा था कि जो रेखागणित नहीं जानता वह मुझ से पढ़ने न आवे। गुरुदत्त का व्रत अपने लिये यह था कि मैं प्रति दिन संस्कृत का अभ्यास करूंगा और आर्य समाज के उन सभ्यों से कराऊंगा जो मुझ से मिलने वाले हैं।

(२) उनका दूसरा व्रत योगाभ्यास का था। यम नियम आसन इत्यादि अष्टांग योगविधि पर चलने के लिये वह सबसे दूसरी प्रतिज्ञा कराते थे। उस समय यम नियम की इतनी चर्चा थी कि अब तक भी कहीं सुनने में नहीं आती। लाहौर के प्रत्येक बाग़ में जिधर देखो सब कालेजों के नामी छात्र प्राणायाम कर रहे हैं। वह दिन अब भी आसकते हैं यदि हम लाने का यत्न करें। ईश्वर हमारे निर्बल आत्मा में मनोबल दे

ताकि हम ऋषि दयानन्द के सच्चे भक्त मुनि गुरुदत्त के दो महाव्रतों को धारण करने के योग्य होसकें।

श्री मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी लिखित 'मुनिवर गुरुदत्त के दो महाव्रत' शीर्षक आर्य मित्र के ऋष्यङ्क में प्रकाशित निबंध से उद्धृत।

पद्धति।

गुरुदत्त दिन की पद्धति भी अन्य वीर पर्वों के गृह्य और सामाजिक कृत्यों के अनुसार ही है। इस अवसर पर पं० गुरुदत्तजी की सविस्तर जीवनी का पाठ होना चाहिए।

टिप्पणी—इस निबंध में वर्णित मुनिवर पण्डित गुरुदत्त जी की जीवन घटनाओं का संग्रह लोकमान्य, पंजाबकेशरी, स्वनामधन्य, श्री लाला लाजपतराय जी कृत उर्दू "मरहूम पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का जीवन चरित हिस्से अव्वल" नामक उत्तम पुस्तक से किया गया है। यह सुन्दर ग्रन्थ पं० गुरुदत्त जी की प्रामाणिक जीवनी है जो उन के वयस्य, सहपाठी, सहयोगी, प्रशंसित लाला जी महोदय ने बड़ी गवेषणा और परिश्रम से लिखी थी, उससे संप्राप्त सहायता के लिये लघु लेखक सम्मान्य ग्रन्थ कर्ता का कृतज्ञ है। यदि इस उत्तम ग्रन्थ का परिवर्धित आर्यभाषा संस्करण सुयोग्य लेखक महोदय प्रकाशित करा देवें तो आर्य जनता का महोपकार होसकता है।

॥ इति ॥

—०—